Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

# विनय पिटक[1] के आधार पर भारतीय भौतिक जीवन की झलक

[ लेखक–श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी, एम० ए० काशी ]

## आमुख

भगवान् बुद्ध के उपदेश तीन पिटकों में बटे हुए हैं। ये तीन पिटक सुत्त, विनय और अभिधम्म पिटक हैं। इनमें प्रस्तुत विषय की दृष्टि से विनय महत्त्वपूर्ण है। 'विनय' शब्द का अर्थ होता है नियम।° उस पिटक में भिक्षुभिक्षुणियों के नियम, तथा उनके इतिहास और व्याख्याओं का सङ्कलन किया गया है। बुद्ध निर्वाण (ई. पू. ४८३) से लेकर राजा वट्टगामिनी के काल तक (ई. पू. २९–१ तक) स्थविर वादियों का त्रिपिटक बराबर कंठस्थ ही चला आ रहा था। उसे सर्वप्रथम वट्टगामिनी के समय लंका में लेख बद्ध किया गया। इसके कई संस्करण होने के कारण पाठभेद भी आ गए हैं पर इससे विनयकी प्राचीनता एवं उपादेयता में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। विनय पिटक में जिस संस्कृति के संकेत मिलते हैं अथवा जिन ऐतिहासिक घटनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है वे लगभग बुद्ध के समकालीन ही हैं। जो कुछ पाठों इत्यादि में परिवर्तन हुए भी हैं वे सब सिंहल ही में बुद्ध निर्वाण के २३६ वर्ष बाद (ई. पू. १२०) तक हुए हैं। इस प्रकार जिस संस्कृति की झलक हम इस पिटक में पाते हैं वह ई. पू. छटी शताब्दि से ई. पू. दूसरी शताब्दि तक की है अथवा बुद्धकाल से शुंगकाल तक की है (रा. सांकृत्यायन—विनय पिटक, भूमिका पृ. ७)।

जैसा अभी हम कह चुके हैं विनय पिटक मूलतः शिक्षापदों का संग्रह है, तथापि इन नियमों को बताने और बनाने के सिलसिले में हमें तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति सम्बन्धी कई तथ्य और संकेत मिल जाते हैं। शैली यह थी कि बुद्ध प्रारंभ में किसी एक नियम को साधारण रूप से बतला देते थे और जैसे जैसे उसके पालन में कठिनाई उपस्थित होती जाती थी वैसे वैसे बुद्ध नवीन तथा योग्य सुधारों की अनुमति देते जाते थे। इस प्रकार विनय में तत्काल रहन-सहन की बहुत सी बातों का उल्लेख आता है। संक्षेप में विनय पिटक भिक्षुओं के आचार

---

[1] प्रस्तुत लेख में जिन सन्दर्भ ग्रथों का उपयोग किया गया है वे निम्नांकित हैं—

१—हर्मन ओल्डेनवर्ग—'विनय पिटक इन पाली' (मूलग्रंथ) लण्डन १८८० (जहाँ पर केवल सन्दर्भाङ्क दिये हैं वे इसी ग्रंथ के हैं।)

२—हर्मन ओल्डेनवर्ग व रिज़ डेव्हिडस्—विनय टेक्स्टस्, तीन भाग, ऑक्सफोर्ड १८८१, ८२, ८५ (सन्दर्भों मे इसका संकेत 'ओल्डे०' यों है, इसके आगे भाग व पृष्ठ की संख्या दी गई है)।

३—राहुल सांकृत्यायन—विनयपिटक (हिन्दी), महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३५ (संकेत—रा. सां.—वि. पि. सन्दर्भ व पृष्ठ संख्या)।

इसके सिवा बाकी पुस्तकों और उनके लेखकों के पूरे नाम दे दिए गए हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



नियमों को जानने के लिये तो उपयोगी है ही, साथ ही वह पुराने अभिलेखों, फाह्यान, श्युआन च्वाङ आदि यात्रियों के लिखे हुए विवरणों तथा प्राचीन कलाकृतियों को समझने के लिये भी बड़ा सहायक है। तत्कालीन सामामाजिक एवं राजनीतिक अवस्था की सूचक सामग्री की दृष्टि से चीवर खंधक, चम्मखंधक, भेसज्जखंधक इत्यादि कई परिच्छेद बड़े उपयोगी हैं। प्रस्तुत लेख में हम इसी सामग्री के आधार पर तत्कालीन भारत की भौतिक सभ्यता का चित्र अंकित करने की चेष्टा करेंगे। किन्तु विनय पिटक के इतिहास-ग्रंथ न होने के कारण यह चित्र केवल 'रेखा चित्र' भर होगा, विविध रंगों एवं छटाओं का विलास दिखलाने वाला 'वर्णचित्र' नहीं। अब हम भौतिक सभ्यता के विभिन्न अंगों पर क्रमशः विचार करेंगे।

## वास्तुकला

विनय पिटक में साधारण लोगों के घर, राजप्रासाद इत्यादि का वर्णन बहुत ही कम मिलता है। जो कुछ उल्लेख यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं, उनसे पूरा चित्र नहीं खड़ा किया जा सकता। इसके विपरीत विहार, गुहा, इत्यादि के निर्माण का इतना अच्छा विवेचन मिलता है कि उसकी सहायता से तत्कालीन घरों और महलों की भी कल्पना की जा सकती है।

भिक्षुओं के रहने योग्य निवासस्थानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—विहार, प्रासाद (पासाद), हर्म्य (हम्मिय), एक विशेष प्रकार का घर (अड्ढयोग), गुहा तथा लेण (चुल्लवग्ग ६. १. ३)। इसके सिवाय आवसथागार, चंक्रम, कठिनशाला इत्यादि के भी उल्लेख मिलते हैं।

**विहार**

भिक्षुओं के निवास स्थान को 'विहार' कहते हैं। आरंभ में इसका रूप केवल एक झोपड़ी सा होता था, इसमें दरवाजे भी नहीं होते थे, किन्तु विनयकाल में ही इस अवस्था में परिवर्तन होता गया और अन्त में विहार का निष्पन्न रूप सामने आया। इस विहार निर्माणकला के विविध रूपों का इतिहास तत्कालीन वास्तुकला पर अच्छा प्रकाश डालता है। विहार की कुर्सियाँ ऊँची होती थीं (उच्च वत्थुकं, चुल्ल० ६-३-३)। पहले दीवालें मिट्टी की बनती थीं, उस समय उनके निचले भाग (कुड्डपाद) को मजबूत बनाने के लिये 'कुलंक पादक' का प्रयोग किया जाता था (चुल्ल० ६-३-४)। ओल्डेनवर्ग के मतानुसार इस शब्द का अर्थ सागवान है (ओल्डे०-भाग ३ पृ० १७४)। इस प्रकार निचला भाग तो ठीक रहता था किन्तु ऊपरी दीवाल शीघ्र ही गिरने-लगती थी (कुड्डो ओवस्सति)। उसे बचाने के लिये बछड़े के गोबर और राख को मिलाकर बनाया गया पलस्तर (उद्दसुधा) लगाया जाता था (चुल्ल० ६-३-४)। जब इससेभी काम न चला तब ईटों की दीवालें बनने लगीं। गीली मिट्टी की सहायता से ईटों के रद्दे लगाए जाते थे।[२] एक के ऊपर दूसरी ईंट रखकर की जाने वाली चुनाई के लिये 'चिनाति' यह पारिभाषिक शब्द था (ओल्डे० भाग ३ पृ० १०७ पाद टिप्पणी २)। पक्का फर्श बनाने की कला से लोग परिचित थे। पक्का फर्श (संथार) तीन प्रकार का होता था—ईंटों का (इट्ठिका संथार),

---

२ 'चुल्ल वग्ग ६-५-१ 'चिक्खलं मद्दित्वा इट्ठिकायो चिनित्वा कुड्डे उट्ठापेसि'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Plate I

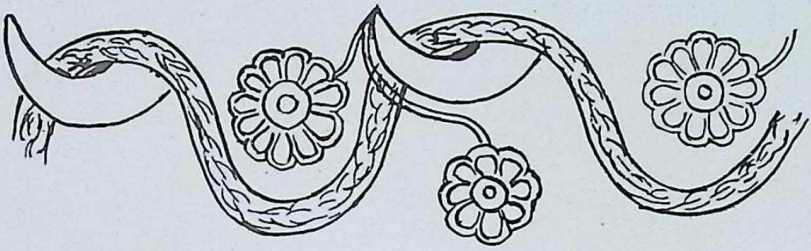

माला और मकरदन्त (पृ० २३५)

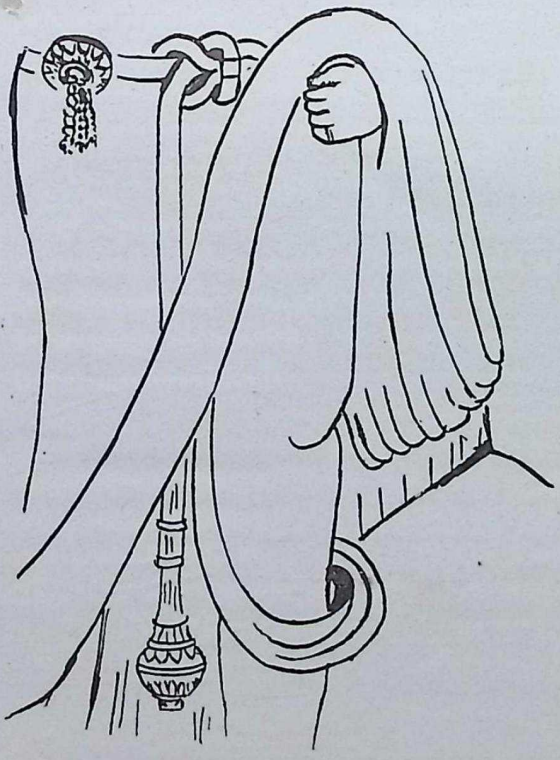

हस्ति सोण्डक पद्धति (पृ० २४८)

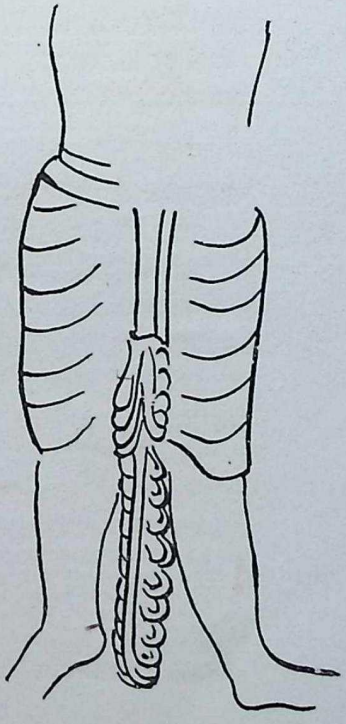

ताल वन्तक पद्धति (पृ० २४९)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Plate II

द्वारांग (पृ० २३६)

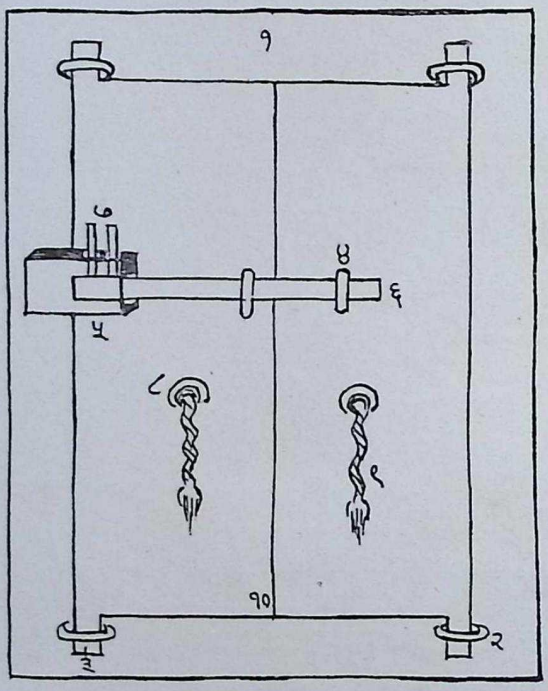


१—पिट्ठ संघाट
२—उदुक्खलिक
३—उत्तरपासक
४—अग्गलवट्टी
५—कपिसीसक
६—घटिका
७—सूचिका
८—आविञ्जन छिद्र
९—आविञ्जन रज्जू
१०—कवाट

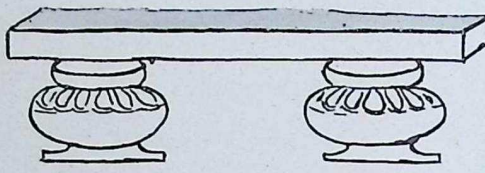

आमलक-वण्टिक पीठ

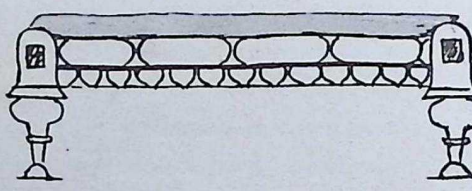

मसारक

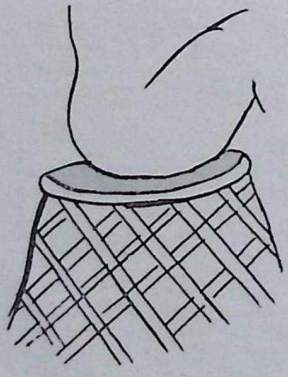

भद्र पीठ

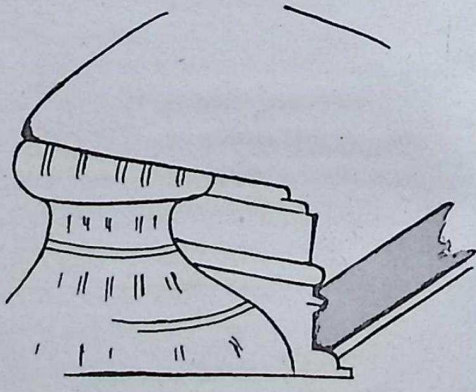

सत्तंग मञ्चक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



लकड़ी का (दारु संथार) और पत्थर का (सिला संथार)[३]। बड़े बड़े विहारों के फर्श भी पक्के बनते होंगे। किन्तु मिट्टी की बनी हुई कच्ची जमीन (भूमि) का भी प्रचार कम नहीं था। इस प्रकार की बनायी गई दीवालों (भित्ति) तथा फर्शों (भूमि) को रंगा भी जाता था। प्रथम उन्हें समतल बनाया जाता था। इसके लिये भूसी (थूस पिण्ड) और चिकनी मिट्टी (सण्ह मट्टिका, कुण्डक मट्टिका तथा गण्ड मट्टिका) को मिलाकर हाथ से थापा जाता था, कभी कभी इस कार्य के लिये सरसों की खली और मोम मिले हुए तेल (सासपकुड्ड सित्थतेलकेन) का भी प्रयोग किया जाता था।[४] इस प्रकार समतल बने हुए फर्श की दीवालों को क्रमशः काले और गेरुए रंग से रंगा जाता था।

इसके बाद दीवालों पर चित्रकारी भी की जाती थी। विनय के अनुसार विहारों में स्त्रीपुरुषों के चित्र बनाना निषिद्ध माना गया है (चुल्ल० ६-३-२), किन्तु अट्ठकथा में कहा गया है कि वैराग्य उत्पन्न करने वाले जातकों के चित्र बनाये जा सकते हैं (रा. सां.-विनय पिटक पृ. ४५५)। इसके सिवा बुद्ध ने स्वयं विहारों में चार प्रकार के अलंकरण—माला, मकरदन्त, लता तथा पञ्चपटिका—बनाने की आज्ञा दी थी (चुल्ल० ६-३-२)। प्राचीन भारत की कलाकृतियों में इन अलंकारणों का खब प्रयोग हुआ है। इस स्थल पर हमें इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि चित्र निर्माण के लिये किन प्रकार के रंगों का प्रयोग किया जाता था। किन्तु एक दूसरे स्थल पर[५] चीवरों को रंगने की चर्चा की गई है। वहाँ पर वृक्षों की जड़ से, छाल से, फूल से, पत्तों से, अथवा फलों से बनाये हुए रंगों का उल्लेख मिलता है। चित्र निर्माण के लिये प्रकृति द्वारा प्राप्त इन्हीं रंगों का उपयोग किया जाता होगा।

प्रारंभिक अवस्था में विहार की छतें (छदनं) घास (तिण) और पत्तों से (पण्ण) से आवृत होती थीं और भीतर कूड़ा न गिरे इस लिये कपड़े की चाँदनी (वितान) लगा दी जाती थी (चुल्ल० ६-३-४)। पर बाद में भगवान् बुद्ध ने इन दो के सिवा और तीन प्रकार की छतों की अनुज्ञा दी (चुल्ल० ६-३-१०)। नवीन प्रकार की छतें ईंटों द्वारा (इट्ठका छदनं), पत्थर द्वारा (सिला छदनं) और चूने द्वारा (सुधा छदनं) बनायी जाती थीं। इन छतों को भी लीप पोत कर (ओगुम्फेत्वा) सुन्दर बनाया जाता था (चुल्ल० ६-३-१०)।

विहारों में कई कोठरियाँ[६] (गब्भ) बनी होती थी। आरंभिक अवस्था में गब्भ बनाने के लिये पर्दों (तिरो करणी) का उपयोग किया जाता था पर जब इससे काम न चला तब आधी दीवालें (अड्ढ कुड्डक) बनने लगीं। कोठरियों के कई प्रकार थे।

'सिविका गब्भ' उस कोठरी को कहते थे जिसकी लम्बाई चौड़ाई बराबर हो; लम्बे कमरे का नाम 'नालिका गब्भ' था; तथा छत के ऊपर वाला कोठा 'हम्मिय गब्भ' कहलाता था।

---

३ चुल्ल० ६-१४-३

४ इस संपूर्ण प्रक्रिया के लिये चुल्ल० ६-३-१

५ महावग्ग ८-१०-१

६ इस सारे विवरण के लिये देखिये चुल्ल० ६-३-३

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



छोटे विहारों में (खुद्दके विहारे) कोठरियाँ एक ओर बनायी जाती थी और बड़े विहारों में(महल्लके) बीचों बीच। तात्पर्य यह था कि प्रत्येक विहार में इस प्रकार का कुछ स्थान सुरक्षित रहे, जहाँ पर सब लोग एकत्र मिल सकें और जिसका उपयोग, प्रार्थना, शास्त्रचर्चा या सभा के लिये हो सके।

विहारों के निर्माण में इस बात का उचित ध्यान रखा जाता था कि प्रकाश तथा हवा के आवागमन में कोई रुकावट न हो। इस लिये दरवाजे (द्वार) और खिड़कियाँ (वातपान) बनाये जाते थे। द्वार के निम्नांकित अंग होते थे[७]—'कवाट' या द्वार के पल्ले; 'उदुक्खलिक' या चौखट के चारों सिरों में बनाये हुए वे छेद जिनमें कवाटों के सिरे बैठाये जाते थे; 'उत्तरपासक' या कवाटों के खुंटीनुमा सिरे। प्राचीनकाल के दरवाजे आजकल की भाँति कब्जों के सहारे से चौखट (पिट्ठसंघाट) पर नहीं कसे जाते थे किन्तु प्रत्येक पल्ले के ऊपर व नीचे के सिरे पर एक खुंटी निकली होती थी जिसे चौखट में फँसाया जाता था। आजकल भी पुराने चाल के घरों में इस प्रकार के दरवाजे देखे जा सकते हैं। द्वार को बंद करने के लिये भी विशेष प्रकार की वस्तुएँ काम में आती थीं। पहली थी 'घटिका' या अर्गला जिसे हिंदी में 'ब्योंड़ा' कहा जाता है। दुसरी वस्तु अर्गला को धारण करने वाली कड़ियाँ(?) या 'अग्गल वट्टि' थी।[८] ये कड़ियाँ पल्लों में लगी रहती थीं। चौखट में एक ओर लकड़ी का एक मोटा सा टुकड़ा लगाया जाता था जिसमें अर्गला को फँसाने के लिये छिद्र बना रहता था। इस गुटके का नाम 'कपि-सीसक'[९] था। किले की दीवार पर बने हुए उठते कंगूरे भी कपिशीर्षक कहलाते थे। दरवाजे के बंद किये जाने पर कपिसीसक में फँसी हुई घटिका ढीली न रह जाय अथवा न निकल जाय इसलिये ऊपर से (कपिसीसक में छेद के कर) छोटी छोटी लकड़ियाँ फँसाई जाती थीं जिन्हें सूचि कहते थे। दरवाजे के दोनों पल्ले एक साथ बंद किये जा सकें इस लिये प्रत्येक पल्ले में एक एक डोरी लटकती रहती थी जिसे 'आविञ्जन रज्जु' कहा जाता था। जिस छेद से ये डोरियाँ निकलती थीं उसे 'आविञ्जन छिद्र' यह नाम था (दे० द्वारांग का चित्र)।

इनके सिवा ताले के छेद (ताल छिद्र) और लोहे लकड़ी तथा सींगके तालों का भी उल्लेख मिलता है (चुल्ल० ६-२-१)। यही नहीं, आजकल के समान कुंजियों से खुलने वाले तालों जैसी कोई वस्तु भी अस्तित्व में थी। इसे वहाँ पर 'यंत्रक' और 'सूचि' (यन्तक सूचिकं) कहा गया है।

विहारों में दरवाजों के अतिरिक्त खिड़कियाँ (वातपान) भी होती थीं। इन खिड़कियों में जालियाँ या जंगले लगे होते थे। जंगलों के नाम पर ही खिड़कियों का नामाभिधान होता

---

७ द्वारांगों के लिये चुल्ल० ६-२-१; ओल्डे० भा. ३ पृ. १०४-१०५ में पाद टिप्पणियाँ देखिये। वहीं पर बुद्ध घोष द्वारा किए गए अर्थ भी द्रष्टव्य है।

८ 'अग्गल वट्टी नाम द्वार बाहा ये समप्पमानो येव अग्गल थंभो वुच्चति यत्थ तीनि चत्तारि छिद्दानि कत्वा सुचियो देंति'—बु. (वहीं)।

९ 'कपि सीसकं नाम द्वारबाहं विज्झित्वा तत्थ पवेसितो अग्गल पासको वुच्चति'—बु. (वही)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



था। जालियों के तीन प्रकार थे—वेदिका वातपान, जाल वातपान और सलाका वातपान (चुल्ल० ६-२-२)। भारत में इन प्रकारों की जालियों का प्रयोग बहुत दिनों तक होता रहा। कुषाण कालीन कला में इन प्रकारों की कई जालियाँ देखी जाती हैं (स्मिथ, व्ही. ए.—जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटिज. आफ मथुरा प्लेट ४१—फिगर १ वेदिका वातपान, फिगर २-४ जाल वातपान)। बहुधा जालियों के छेद पहले इतने बड़े होते थे कि इनमें छोटे छोटे पक्षी आसानी से आ जा सकते थे। इन्हें रोकने के लिये कपड़े के पर्दे (चक्कलिका) लगाये जाने लगे। खिड़कियों में किवाड़ तथा उनके ऊपर बरसाती (वातपान भिसिका) भी लगी रहती थी। खिड़कियों की ये बरसातियाँ भी शुंगकालीन कला कृतियों में पायी जाती हैं (मार्शल, सर जॉन—दी मान्युमेंटस् ऑफ सॉची, प्लेट १५)।

यहाँ तक मुख्य विहार के निर्माण का विवेचन हुआ। अब बिहार के अन्य अंगों का विचार करें।

**स्नान गृह (जन्ताघरसाला)**[११]

विहार के रूप परिवर्तन के साथ साथ स्नानगृह का भी परिवर्धन होता गया। अपनी पूर्ण अवस्था में यह एक पक्का बना हुआ कमरा हो गया जिसमें 'पिट्ठसंघाट'और'उत्तरपासकों' से युक्त किवाड़ लगे होते थे जो अर्गलाओं और तालों से बंद किये जा सकते थे। बड़े बड़े स्नानगृहों के बीच में तथा छोटों में एक ओर आग जलाने की जगह (अगिट्ठान) होती थी। धुआँ जाने के लिये धमाले (धूमनेत्त) बनाये जाते थे (चुल्ल० ५-१४-३)। आग के स्थान (अग्गिमुख) पर लेप करने के लिये एक बर्तन (मट्टिक दोणिकं) में मिट्टी रखी रहती थी। स्नानगृह में पानी रखने के लिये जो स्थान होता था उसे 'उदकाधान' कहते थे। इस उदकाधान पर मिट्टी के बड़े बड़े घड़े रखे रहते थे जिनमें आवश्यक जल संचित रहता था। स्नानगृहका फर्श (संथार) पक्का बना होता था (चुल्ल० ५-१४-३), जिसे आवश्यकतानुसार धोया भी जा सकता था। यहीं पर भिक्षुओं को बैठने के लिये चौकियाँ (जन्ताघर पीठ) भी लगी होती थीं।

जन्ताघर के एक दूसरे भाग का नाम कोष्ठक (कोट्ठक) था। इसके वर्णन से जान पड़ता है कि स्नान करने का विशेष स्थान यही था। इसे भी पक्का ही बनाया जाता था, किन्तु यहाँ पर पानी खूब बहता था; उसे सुखाने के लिये पहिले तो मोरम (मरुम्ब) की योजना की गई पर जब इससे कीचड़ (चिक्खलं) अधिक होने लगा तब गिट्टी (पदसिला) बिछाई जाने लगी। गिट्टी बिछाते समय इस बात का उचित ध्यान रखा जाता होगा कि वह स्नानकर्ता के पैर में न गड़े।

पानी के निकास के लिये नालियाँ (उदकनिद्धमनं) बनी होती थी। जन्ताघरों में वस्त्रादि टाँगने के लिये बाँस और रस्सी (चीवरवंशं, चीवर रज्जुं) रहा करती थी।

जब कभी 'जन्ताघर साला' पर मुंडेरे बना दिये जाते थे तब उसे 'निल्लेख' कहा जाता था (रा.सां.—विनयपिटक पृ. ४३३)

---

१० सूचिका ति तत्थ (कपिसीसके) मज्झे छिद्दं कत्वा पवेसिता'—बु. (वही)।

११ जन्ताघर साला के वर्णन के लिये चुल्ल० पृ. १४-३-३, ५-१६-१

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



विनय पिटक में पाखानों और पेशाबघरों के निर्माण का विस्तृत वर्णन मिलता है। पेशाबघर पक्के बने होते थे। इसमें पावदान (पस्साव पादुका) होते थे। आसपास दुर्गन्ध न फैले इस लिये पेशाबदान (पस्साव कुंभि) को एक ढक्कन (अपिधान) से ढँक दिया जाता था (चुल्ल० ५-३५-१)। पाखाने या सण्डास को 'वच्चकुटी' कहते थे। इसकी कुर्सी ऊँची (उच्चवत्थुक) होती थी। इसका फर्श भी ईंटों, लकड़ी या पत्थर का बना होता था। भीतर बैठने इत्यादि की सारी व्यवस्था[१३] लगभग वैसी ही होती थी जैसी आजकल सण्डासों में होती है। वर्त्तमान 'कमोड' के समान 'वच्चकूप' भी 'अपिधान' से ढक दिये जाते थे। पानी लेने की प्रथा थी या नहीं यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता, हाँ इतना अवश्य पता चलता है कि स्वच्छता के लिये काठ के छोटे छोटे टुकड़ों (अवलेखन कट्ठ) का उपयोग करते थे। काम में लाया हुआ अवलेखन काष्ठ एक डलिया में फेंक दिया जाता था। सण्डासों में दरवाजे इत्यादि तो होते ही थे, मनोरंजक बात यह है कि इन्हें भी माला लता आदि अलंकरणों से सुशोभित किया जाता था (चुल्ल० ५-३५-३)। इन वच्चकूपों की कुछ अपनी विशेषताएँ थीं। 'निपटने' के लिये जाते समय या उठते समय रोगी तथा बूढ़े भिक्षु गिर न पड़ें इसलिये पावदानों के पास किसी प्रकार का सहारा (ओलम्बनकं) बना होता था। दूसरी विशेषता यह थी कि सण्डास के बाहर एक छोटासा किन्तु पक्का बना हुआ कमरा (कोट्ठक) होता था। कुल्ला करने के लिये यहाँ बर्तनों (आचमन कुंभी, आचमन सरावक) में पानी भरा रहता था। बैठकर हाथ मुँह धोने के लिये पावदान (आचमन पादुका) भी बने रहते थे। जिस गढहे में गंदा पानी एकत्र होता था उसे भी ढँक कर रखा जाता था। इस सारी बनावट को देखने पर विश्वास हो जाता है कि इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता था कि गंदगी के फैलने के कारण कोई उपद्रव न खड़ा हो।

**सण्डास (वच्चकुटी)[१२]**

वैशाली में जब खूब खा-खा कर भिक्षु बीमार पड़ने लगे तब वैद्यराज जीवक के कहने पर बुद्ध ने भिक्षुओं को 'जन्ताघर' और 'चंक्रम' बनाने की आज्ञा दी। जन्ताघरों का वर्णन अभी हो चुका है। 'चंक्रम' (चंकम) का अर्थ है टहलने का स्थान। इसका इतिहास भी बड़ा रोचक है। इसका प्रारंभ तो केवल टहलने की भूमि से ही किया गया पर सुधारों के होते होते अन्तमें उसका स्वरूप पूरी तरह से बदल गया। अब वह 'चंकमन साला' बन गई। यह भी 'उच्चवत्थुक' होती थी। कुर्सी की चुनाई ईंट, पत्थर या लकड़ी से की जाती थी। आवश्यकतानुसार सीढ़ियाँ (सोपान) भी बनायी जाती

**टहलने का स्थान (चकमन साला) [चुल्ल० ५-१४-२]**

---

[१२] वच्चकुटी—समग्र वर्णन के लिये चुल्ल० ५-३५-१–३।

[१३] चुल्ल० ५-३५-२.....अन्ते निसिन्ना वच्चं करोन्ता परिपतन्ति। अनुजानामि भिक्खवे संथरित्वा मज्झे छिद्दं कत्वा वच्चं कातुं ति।....अनुजानामि भिक्खवे वच्च पादुकां ति।

चुल्ल० ५-३५-३.....अवलेखन कट्ठं न होति। अनुजानामि भिक्खवे अवलेखन-कट्ठं ति।.....अनुजानामि भिक्खवे अवलेखन पिधरं ति।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



थीं जिसके दोनों ओर सहारा लेने के लिये 'आलम्बन बाही' बनी होती थी। चंक्रम वेदिका से घिरा होता था जिससे टहलते समय भिक्षु गिर न पड़ें। इसकी भूमि समतल बनायी जाती थी। सर्दी गर्मी में भिक्षुओं को कष्ठ न हो इसलिये चंक्रम के ऊपर छत (छदन) बना देते थे, यह ईंट पत्थर या चूने की होती थी। बिहारों के समान 'चंकमन साला' की दीवालों को भी लीपपोत कर (ओगुम्फेत्वा) सफेद या गेरुए रंग से रंगा जाता था तथा उन पर माला मकरदन्तादि अलंकरण चित्रित किये जाते थे। इसकी लम्बाई चौड़ाई का पता नहीं है और न इस बात का संकेत मिलता है कि एक साथ कितने भिक्षु 'चंक्रमण' कर सकते थे।

विहार के लिये पानी प्राप्त करने का प्रमुख स्थान कुआँ (उदपान) था। कुएँ के चारों ओर ऊँची जगत (कूल) बांधी जाती थी जिसपर पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं। यह सब काम पक्का होता था। कुएँ से पानी निकालने के लिये ढेंकुलि (तुला) होती थी। इसके सिवा पानी खींचने के लिये पहिया (कर्कटक) भी लगा रहता था। इन दोनों के सिवा सम्भवतः 'रहट' से भी लोग परिचित थे। इसे 'चक्कवट्टक' कहते थे[१४]। जिस पात्र से पानी निकाला जाता था उसे 'वारक' कहते थे। वारक तीन प्रकार का होता था। लोहेका (लोहवारक), लकड़ी का (दारुवारक) तथा चमड़े का (चम्मवारक),। पानी खींचने की रस्सी 'उदक वाहन रज्जु' कहलाती थी।

**(कुँआ उदपान)**
[चुल्ल० ५-१६-२]

कुँए में कूड़ा करकट न गिरे इसलिये उसपर छाया कर दी जाती थी और तब उसे उदपान साला कहते थे। यह भी पक्की बनायी जाती थी। साथ ही साथ कुँए को गन्दगी से बचाने के लिये ढक्कन या 'अपिधान' भी प्रयुक्त होता था।

कूप से निकाला हुआ पानी बड़े बड़े कठौतों (उदकदोनि) में रखा जाता था। ये दोनियां पेड़ के तनों को काट कर बनायी जाती थीं।[१५] जब पानी का अधिक संग्रह अपेक्षित होता था तब हौज (चन्दनिका) का उपयोग किया जाता था। यह चन्दनिका ईंट, पत्थर या लकड़ी की सहायता से पक्की बनायी जाती थी। इसमें पानी निकालने के लिये नाली (उदक-निद्धमानं) बनी रहती थी।

विनय पिटक में तालाब (पोक्खरणी) का भी उल्लेख मिलता है (चुल्ल० ५-१७-२)। इसे पक्का बनाया जाता था। विशेष बात यह थी कि यहां से पुराने पानी को बाहर निकालने तथा नवीन भरने की भी व्यवस्था रहती थी। पानी निकालने वाली नाली 'उदकनिद्धमान' तथा पानी भरने वाली 'उदकघटिकं' कही जाती थी। बहुधा यह कार्य नहरों से होता होगा।

कोठरियों का वर्णन करते समय हम जिस सार्वजनिक स्थान का उल्लेख कर आये हैं, बहुधा उसीका नाम 'उपठ्ठानसाला' या उपस्थानशाला था (चुल्ल० ६-३-६)। महापरिनिर्वाण-

---

१४ ओल्डे० भाग ३ पृ० ११२ पादटि० ६—'बुद्धघोष की टीका इस विषय पर स्पष्ट नहीं है'—ओल्डेनबर्ग का कथन। बुद्धघोष के अनुसार—अरहट्टघटियन्तम्'। अरहट्ट घटि से रहट की ओर संकेत मालूम पड़ता है—ले०

१५ ओल्डे० भाग ३ पृ० ११२-३ पादटि० ५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



सूत्र में एक स्थल पर वर्णन मिलता है कि बुद्ध ने सारे भिक्षुसंघ को उपस्थानशाला में ही धर्मोपदेश किया था (महापरि० पृ० १० व ११ भिक्षु कित्तिमाद्वारा सं०)। कभी कभी यह भोजनगृह का भी काम देती थी। विहार का एक अंग होने के कारण यह पक्की तो होती ही थी। चीवरादि वस्त्र टांगने के लिये उसमें खूंटियाँ (नागदन्त) लगी रहती थीं।

**पानीका स्थान (पानीय साला) [चुल्ल० ६-३-७]**

संभवतः यह स्थान पीने का पानी रखने के लिये बनाया जाता होगा। विहार में इसके लिये एक ओर अलग जगह बनाई जाती थी। यहां पर पानी रखने के लिये एवं उसका उपयोग करने के लिये बर्तन (पानीय सरावक, पानीय संख) रखे होते थे।

**अग्नि का स्थान (अग्निसाला) [चुल्ल० ६-३-९]**

विनय पिटक में अग्निशाला (अग्गिसालं) का स्वतंत्र रूप से भी उल्लेख आता है। यह निश्चित नहीं बतलाया जा सकता कि यह अग्निशाला जन्ताघर की अंगीभूत होती था या स्वतंत्र रूप से इसका अस्तित्व था। संभव है कि 'पाकसिद्धि' के लिये आवश्यकता पड़ने पर इसे काम में लाया जाता हो। धुआँ निकलने के लिये यहाँ भी 'धूमनेत्त' बने रहते होंगे।

**दालान (आलिन्द) चुल्ल० ६-३-५**

विहार में दालान (अलिन्द) होते थे। मुख्य द्वार के सामनेवाला देहली का भाग प्रघण (पघन) कहलाता था।[१६] बीचवाले कमरे के या गर्भगृह के चारों ओर बने हुए पक्के दालान को प्रकुड्य (पकुट्ट)[१७] कहते थे। इसके नाम से यह भी ध्वनित होता है कि यह कमरों द्वारा आवृत रहता हो। जब विहार छोटा होता था और उसमें पक्के बने हुए अलिन्द नहीं होते थे तब बांसों के सहारे डण्डे बांधकर छाया सी बना ली जाती थी। उसे 'ओसरक'[१८] कहते थे। अलिन्दों में कहीं कहीं पर खिसकाये जाने वाले पर्दे (संसरण किटिक) तथा खोले जाने वाले पर्दे (उद्घाटन किटिक) लगाये जाते थे (चुल्ल० ६-३-९)।

**बगीचे (आराम) [चुल्ल० ६-३-९]**

प्रत्येक विहार में छोटे छोटे बगीचे या आराम होते थे। उनके चारों ओर खाई (परिखा) खुदवा दी जाती थी जिससे बकरियाँ इत्यादि जानवर (अजकापि पसुकापि) बगीचे को कोई हानि न पहुँचा सकें। दूसरा प्रकार यह भी था कि आरामों को कांटों के घेरों से (कण्टकी वाटं) आवृत कर दिया जाता था। आरामों का मुख्य द्वार (कोठ्ठकं) 'तोरण' व 'पलिघ' से युक्त होता था। किन्तु इसके दरवाजे लकड़ी के नहीं बनते थे। डण्डों

---

१६ ओल्डे० भाग ३ पृ० १७५ पाद टि०—'पघनं नाम यं निक्खमन्ताच पविसन्ता च पादेहि हनन्ति'—बु०।

१७ वही पाद टि०—'पकुट्टं ति मज्झेगब्भस्स समन्ता परियागारो वुच्चति'—बु०।

१८ वही पाद टि०—'ओसरको ति अनालिन्दके विहारे वंसं दत्वा ततो दण्डके ओसारेत्वा कतं छदन पमुखं'—बु०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



और काँटों से (अपेसियं) इन्हें बनाया जाता था तथा 'अक्क' वृक्ष के घेरों से घेरा जाता था (अक्कवाटं)। इसके सिवा डण्डे (पलिघ) लगाकर भी आड़ की जाती थी।[१९]।

**आंगन व चहारदीवारी (परिवेण) व (पाकार)** [चुल्ल० ६-३-८]

विहार के बीच में आंगन (परिवेण) होता था। आंगन में कीचड़ (चिक्खलं) न हो इस लिये मोरम (मरुम्ब) या गिट्टी (पदसिला) बिछवा दी जाती थी। इसके सिवा पानी बहने के लिये नालियाँ (उदक निद्धमनं) भी बनी होती थीं। सारा विहार चहार दीवारी (पाकार) से घिरा होता था। यह चहारदीवारी तीन प्रकार की—ईंट, लकड़ी या पत्थर की (इट्ठिका पाकार, दारु पाकार, सिला पाकार) होती थी। एक ओर बीच में प्रवेशद्वार (कोठ्ठक) होता था। यह ऊँची कुर्सी पर पक्का बनाया जाता था और इसमें मजबूत दरवाजे लगे रहते थे।

इस प्रकार विनय पिटक में वर्णित बौद्ध विहार सभी प्रकार से पूर्ण होता था। उसकी रंगी हुई दीवारें, उसके विभिन्न कमरे, प्राकार का मुख्य द्वार उद्यान सभी उसकी सुन्दरता को बढाते होंगे।

**गुहा** [रा०सां०विनयपिटक महा० ६-३-१]

विहारों के बाद बौद्ध निवास स्थानों में दूसरा स्थान गुहा का है। गुहाएँ चार प्रकार की होती थी—पत्थर की (सिला गुहा), ईंटकी (इट्ठक गुहा), लकड़ी की (दारु गुहा), तथा मिट्टी की (पंसु गुहा)। पत्थर की गुहा के सिवा जिसे लेण[२०] भी कहा जाता है, अन्य गुहाओं के निर्माण के विषय में विनय पिटक हमें कुछ नहीं बतलाता। लेण बनाने के लिये सर्व प्रथम पहाड़ साफ किया जाता था। बौद्ध भिक्षु स्वयं गुफा काटने में सिद्ध हस्त होते थे। विनय में वर्णन आता है कि जिस समय भिक्षु पिलिन्द वच्छ गुफा काटने के लिये पर्वत स्वच्छ कर रहे थे, उस समय सेनिय बिम्बसार उनसे मिलने के लिये गया था[२१]। सुविधा होने पर भिक्षुओं के साथ अन्य तक्षक भी काम करते थे। ये लोग 'आरामिक' कहे जाते थे। लगातार कई वर्ष काम करने के बाद तब कहीं ये लेण तैय्यार होते थे। बहुधा 'लेणों' के लिये चुने जाने वाले पर्वत जंगलों में होते थे। ऐसी अवस्था में 'आरामिकों' को नित्य नगर से आने जाने में बड़ी कठिनाई होती होगी। विनय पिटक हमें बतलाता है कि पिलिन्द वच्छ के इस लेण में काम करने वाले ५०० आरामिकों ने वहीं पर अपना स्वतंत्र वासस्थान भी बना लिया था जो 'आरामिक ग्राम' कहलाता था (रा. सां.—विनय पिटक महा. ६-३-२ पृ. २२४)।

---

१९ चुल्ल० ६-३९.....अनुजानामि भिक्खवे कोठ्ठकं अपेसियं, अक्कवाटं तोरणं पलिघं ति।

ओल्डे० भाग ३ पृ. १७६-७७।

२० मराठी भाषा में आज भी 'लेण' या 'लेणी' शब्द का प्रयोग पत्थर से काटी हुई गुफा के ही अर्थ में होता है।

२१ रा. सांकृत्यायन—विनय पिटक—महा० ६-३-१, पृ. २२३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



ये आरामिक बहुधा गरीब हुआ करते थे। उनके पास इतना धन नहीं होता था कि वे अच्छे अच्छे अलंकार पहनें। पिलिन्द वच्छ द्वारा सिद्धिबल से एक आरामिक की पुत्री को सोने की माला दी जाने के कारण उस समूचे कुटुम्ब को राजा का बन्दी होना पड़ा था (वही महा० ६-६-३ पृ. २२४)।

लेणों के विषय में इससे अधिक ज्ञान हमें विनय पिटक से नहीं मिलता।

**अतिथिशाला (आवसथागार) [महा० ६-२८-३]**

अतिथिशाला का दूसरा नाम 'आवसथागार' था। उदान अट्ठकथा से ज्ञात होता है कि पाटलिग्राम के लोगों ने सामूहिक रूप से रहने के लिये इस भवन का निर्माण कराया था क्यों कि अजातशत्रु तथा अन्य लिच्छवि राजा इन बेचारों के मकानों को अनिश्चित काल तक अपने रहने के लिये छीन लेते थे। निश्चय ही यह भवन बहुत बड़ा रहता होगा। पाटलिग्राम के इस आवसथागार में एक बड़ा सा कक्ष था जिसमें कई खंभे थे। बुद्ध ने प्रवेश कर बीच वाले खम्भे (मज्झिम थम्भ) के पास पूर्वाभिमुख हो आसन ग्रहण किया, उसके बाद सारा भिक्षु वर्ग तथा पाटलि ग्राम के सारे गृहपति भी भीत के सहारे (भित्ति निस्साय) आसनस्थ हो गये। विनय पिटक के अनुसार बुद्ध के साथ उस समय १५०० भिक्षु थे। भिक्षुओं की यह संख्या भले ही अतिशयोक्ति पूर्ण हो तथापि आवसथागार इतना विशाल अवश्य रहा होगा कि सब लोग उसमें सुखपूर्वक बैठ सकें। मालूम पड़ता है कि आवश्यकता पड़ने पर पाटलि ग्राम वाले अपने आवसथागार का उपयोग ठीक उसी प्रकार करते थे जैसे आजकल बड़े बड़े सार्वजनिक स्थलों का किया जाता है।

आवसथागार में मुख्य महाकक्ष के सिवा और भी अनेक कमरे रहते होंगे जिनमे कम से कम एक का उल्लेख विनय पिटक में मिलता है। इसे शून्यागार (सुञ्ञागार) कहा गया है। सभा के उपरान्त बुद्ध विश्रामहेतु इसी कमरे में गये थे।

**राजप्रासाद**

विनय पिटक में राजप्रासाद का विस्तृत वर्णन नही आता। एक स्थल पर प्रासाद में जो शयनगृह होता था उसके द्वार स्तंभ को 'इन्द्रकील' (इन्दखील) कहा गया है (भिक्खु पातिमोक्ख ५।८३)। बड़े बड़े प्रासादों में विशाल स्तंभ लगे रहते थे जिनके शीर्ष पर विभिन्न पशुपक्षियों की आकृतियाँ रहती होंगी। विनय में ऐसे स्तंभों का उल्लेख आता है जिन पर गज मस्तक बने होते थे। इन्हें 'हत्थिनक्खक' कहा जाता था (चुल्ल० ६-१४-१)। यह निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि विहार से सम्बन्धित जितने अंगों का विवेचन हमने किया है वे सब अधिक अच्छे रूपों में महलों में भी रहते होंगे। इसके सिवा हर्म्य तथा अड्ढयोग ये दो नाम भी विनय में आते हैं (चुल्ल० ६-१-१)। इनमें हर्म्य (हम्मिय) शब्द का अर्थ सबसे ऊपर वाला प्रासाद अर्थात् सब से ऊँची मंजिल है; अड्ढयोग का अर्थ 'सुवर्ण वर्णवाला वर्गीय गृह' किया गया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं है।[२२] बहुधा ये दोनों बड़े बड़े राजप्रासादों के अंगीभूत ही होंगे।

---

२२ ओल्डे० भाग १ पृ. १७४—हम्मियन्ति उपरि आकाशतले—पतिट्ठित कूटागारो पासादो येव—बु०

वही—अड्ढयोगोति सुवन्न वंग गेहम्—बु०'Gold coloured Bengal House' —ओल्डेनबर्ग।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



साधारण लोगों के घरों का भी स्वतंत्र रूप से वर्णन विनय में नहीं मिलता। किन्तु एक स्थल पर गृहनिर्माणकला की विविध प्रक्रियाओं के नाम भर मिलते हैं(चुल्ल०६-१७-१);

**साधारण लोगों के घर (निवेसनं)**

जैसे दीवाल बनाने के लिये मिट्टी के ढ़ेर लगाना (पिण्ड निक्खेपन), दीवाल को पलस्तर करना (कुड्डलेपन), ब्योंडे की कडियाँ लगाना (अग्गल वट्टिकरण), सफेदी पोतना (सेतवण्ण करण), काला रंग पोतना (कालवण्ण करण), छत बनाना (छादन), फूटे या टूटे की मरम्मत करना (खण्डफुट्ट पटिसंखरण), फर्श की मरम्मत(परिभण्ड करण) इत्यादि। विहारों का वर्णन करते समय हम पक्की दीवालों, छतों तथा फर्शों का वर्णन कर आये हैं। साधारण लोगों के घरों में भी बहुतसे घर पक्के बनते होंगे, तथा उनमें अलिन्दादि भी बनाये जाते होंगे। हमें घरों के विभिन्न कमरों का वर्णन नहीं मिलता। किन्तु एक स्थल पर अन्न सञ्चय करने के लिये विशेष स्थल (कप्पभूमि) बनाने का संकेत मिलता है (महा० ६-५-४ रा. सां.—विनय.) ये कल्प्य भूमियाँ चार प्रकार की बतलाई गई हैं—उनमें से एक विशेष प्रकार है खंभों पर उठाई गई कल्प्यभूमि। वस्तुओं की विशेष सुरक्षा के लिये यह प्रकार होगा।

कप्पभूमि के सिवा पाकशाला, अग्निशाला, वच्चकूप, जन्ताघरशाला इत्यादि आवश्यक स्थान भी रहते होंगे। स्थल स्थल पर वस्त्रादि टांगने के लिये खूंटिया (नागदन्त) तथा कीले (भित्तिखीले) लगे रहते थे (चुल्ल० ५-९-५)।

**कुटी—**

तपस्वी लोग कुटियों में रहा करते थे। बौद्ध भिक्षुओं की कुटियाँ निश्चित परिमाण की ही बनवाई जाती थी। विनय पिटक के अनुसार कुटी की लम्बाई बुद्ध के वित्ते से बारह वित्ता और चौड़ाई सात वित्ता रहती है। राहुलजी के मतानुसार यह परिमाण १०½ फीट × ६ फीट के लगभग होता था (रा. सां.—विनय पिटक भिक्खु पातिमोक्ख २।२ पृ. ११)। कुटी तृण या पर्णों से छायी जाती होगी।

## —वेषभूषा—

विनय पिटक में कई प्रकार के कपड़ों का वर्णन आता है जैसे कपास के बने हुए कपड़े (कप्पासिकं), कपास और ऊन के मिश्रित कपड़े या क्षौम वस्त्र (खोमं), शुद्ध ऊन के (कम्बलं), सन या जूट के बने हुए (साण), तथा भांग की छाल से बने हुए (भंग) वस्त्र (महा. ८-२-१)। इनके सिवा एक दूसरे स्थल पर और भी कई विचित्र आवरणों का वर्णन मिलता है जैसे कुशवस्त्र (कुसचीरं), वल्कल (वाकचीरं), मंदार के नाल का बना हुवा कपड़ा (?) (फलकचीरं), बालों का बना हुआ (केस कम्बलं), मृग का चमड़ा (अजिनक्खिपं) तथा सबसे विचित्र उल्लू के पंखों से भरा हुआ वस्त्र का आवरण (उलूक पंखं) (महा. ८-२८-२)। स्पष्ट है कि ये सारे प्रकार जो आज विचित्र जान पड़ते हैं, उस समय समाज में प्रचलित थे और संभव है कि इन प्रत्येक का विशेष गुण भी होता हो। अन्तिम सात प्रकार के आवरण बौद्ध भिक्षुओं के लिये अवैध माने गये हैं। ऊनी वस्त्रों में भी बहुमूल्य वस्त्र वह समझा जाता था जिसके लोम या रोएँ बाहर निकले हों (रा. सां.—विनयपिटक चुल्ल० ५-१-६ पृ. ४२१)। संभव है कि ये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



समूर वाले वस्त्र हों। शिवि (शोरकोट पंजाब के आसपास का प्रदेश) देश के सिबेय्यक दुशाले बहुत ही कीमती समझे जाते थे। वैद्यराज जीवक ने ऐसा ही एक दुशाला बुद्ध को भेंट दिया था (महा. ८-१-१)। अच्छा और मजबूत कपड़ा वही समझा जाता था जो लंबा चौड़ा हो, घना हो तथा भलीभांति छटा और मला हो (रा. सां.—वि. पि—चुल्ल० ५-४-२-)।

जुलाहे को 'तंतक' कहते थे, वह वेमक, वट्ट, सलाक और तंत्र (=करघे) के सहारे कपड़ा बुनता था (भिक्खुनी पाति० ४।४३)।

**सीना पिरोना**

कपड़ों को सीने की कला अति प्राचीन काल से अस्तित्व में थी। विनय में इसके कितने ही प्रमाण मिलते हैं। इस पिटक के अनुसार चीवर दो प्रकार के होते थे—पांसुकुलिक और गहपति चीवर। पांसुकुलिक का अर्थ ही था चिथड़ों को जोड़ जोड़ कर बनाई गई कंथा। इन चिथड़ों को जोड़ने में भी विशेष कला थी। राजगृह से दक्षिणागिरि जाते समय बुद्ध ने आनन्द को मेंड बंधे हुए (पालिबंधं), कतार बंधे हुए (मरियाद बन्धं) सुन्दर खेतों को दिखलाया और उसी प्रकार भिक्षुओं के चीवर बनाने की आज्ञा दी (महा. ८-१२-१)[२३]। आनन्द ने भी अपनी पूरी कला दिखलाई और ऐसे चीवर बनाकर बुद्ध के सामने रखे जिनमें क्यारी (कुसि) भी बनी थी, आधी क्यारी (अड्ढकुसि) भी बनी थी, मण्डल (मण्डल) भी बना था, अर्धमण्डल (अड्ढमण्डलं) भी बना था, विवर्त (विवट्ट-मण्डल और अर्धमण्डल दोनों का सम्मिलित रूप भी बना था, अनुविवर्त (अनुविवट्टं) भी बना था, और ग्रैवेयक (गीवेय्यकं) अर्थात् गर्दन के पास चीवर को मजबूत करने की दोहरी पट्टी, जांघेयक (जंघेय्यकं) यानी पिंडली की जगह चीवर को मजबूत करने की दोहरी पट्टी, तथा बाहुवन्त (बाहन्त) अर्थात् बाँहकी जगह चीवर की दोहरी पट्टी भी बनी थी (महावग्ग० ८-१२-२; राहुल० सां—वि० पि० पृ० २७९))। निस्संशय आनन्द सूई चलाने की कला में पूर्ण पारंगत थे। इसके सिवा सूई के प्रचुर उपयोग के और भी प्रमाण मिलते हैं। जब चीवर फट जाते थे तब भिक्षु उनमें पेबंद लगाते थे (अच्छुपेंति) (महा० ८-१४-२)। यह कार्य भी बिना सूई के उपयोग के असम्भव था। इसके सिवा विनयपिटक में टांकों के नाम भी मिलते हैं। टांके को 'सुत्तान्तरिका' कहते थे। 'कलम्बक' और 'मोघसुत्तक' सीने के प्रकार थे (रा० सा०—वि० पि० चुल्ल पृ०५-१-१३ पृ० ४२७)। मोड़कर सीने को सोभन कहते थे (ओल्डे० भाग ३ पृ० १४३)।

विनय में सीने के लिये काम में आने वाली सारी सामग्री के उल्लेख मिलते हैं। सूई का वर्णन हो चुका है। सूई, काम करते समय हाथ में गड़ न जाय इसलिये आजकल लोग तर्जनी में धातुमयी टोपी सी पहनते हैं जिसे 'अंगुस्ताना' कहते हैं। पिटक काल में भी उसका प्रयोग सर्वमान्य था। उस समय इसे प्रतिग्रह (पटिग्गह) कहते थे (चुल्ल० ५-११-५)। समाज में सोने चांदी के प्रतिग्रह चलते थे, पर भिक्षुओं के लिये शंख, हड्डी, दांत, बांस, लकड़ी

---

[२३] अमरावती से प्राप्त शिलापट्ट पर दिखलाई पड़ने वाले चीवरों से यह वर्णन बहुत कुछ मिलता जुलता है। देखिये शिवराममूर्ति—अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास गर्व्हनमेंट म्यूज़ियम प्लेट ९ चित्र १४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



इसी प्रकार के पटिग्गह होते होंगे। बिना कैंची के सिलाई की सामग्री पूरी नहीं होती। इत्यादि के बने प्रतिग्रह बैध माने गये थे (वही)। साधारण कोटि के दर्जियों के पास भी भला बौद्ध इसे कैसे भूल सकते थे? विनय में कैंची के लिये 'सत्थक' शब्द आता है (चुल्ल० ५-११-१)। इसमें सोने, चांदी, तांबा, शंख, लाख, काठ, बांस, नरकट, सींग, दांत, व हड्डी के बेंट परिस्थिति के अनुरूप लगाये जाते थे (वही)।

यह सब सामान व्यवस्थित रूप से रखा जाता था। सूईयां रखने के लिये 'सूचिघर या नलिका' या सिपाटिका काम में लाई जाती थी। इसमें पाषाणचूर्ण या बालू (सरितक) तथा सत्तू भरा रहता था जिससे सूइयों में मुर्चा न लग जाय। कभी कभी इसके लिये उन्हें मोम से भी लपेट कर रखा जाता था। ये सब वस्तुएँ खो न जांय इसलिये एक थैली (पटिग्गहथविका) में रखी जाती थीं, इसे कंधे के सहारे (अंसबद्धक) तथा बंधनसुत्तक से बांधा जाता था (सारे वर्णन के लिये चुल्ल० ५-११-२—५)। इस थैली को 'आवेसन वित्थक' या 'नमतक' भी कहते थे (वही)। 'नमतक' उस कपड़े को कहते हैं जो बालदार होता है, उसीकी बहुधा यह थैली बनती थी (ओल्डे० खण्ड ३ पृ० ९० पादटिपप्णि ३)।

चीवर को भली प्रकार सीने के लिये एक अन्य वस्तु का आविष्कार किया गया था, वह वस्तु थी सीने का फट्टा (कठिन, दण्ड कठिन)। इसके सहारे चीवर तान दिया जा सकता था जिससे उसकी सिलाई सीधी हो और सीने में आसानी हो (चुल्ल० ५-११-३)।

चीवरों को सीने का भी एक खास स्थान होता था जिसे 'कठिनशाला' व 'कठिन मण्डप' कहते थे (चुल्ल० ५-११-६)। यह भी पक्का बना होता था जिसमें फट्टे को टांगने के लिये नागदन्त तथा कीले लगे होते थे। कटे और सिले चीवर 'छिन्नक' कहलाते थे (रा० सां०—वि० पि० महा० ५—४—१ पृ० २७९)।

जब बौद्ध भिक्षुओं के पास, जिनका ध्येय एक विरक्त का जीवन बिताना होता था, सीने पिरोने का इतना सामान एकत्रित हो सकता था, तो गृहस्थों के तथा राजा महाराजाओं के वस्त्रों को सीने वाले दर्जियों (तुण्णवाय—चुल्ल० ६-५-१) के पास कितने अधिक साधन रहते होंगे?

**वस्त्रों की रंगाई**

अब वस्त्रों को रंगने की चर्चा करें। बौद्धों के वस्त्र तो रंगीन होते ही थे पर जन-साधारण में भी रंगीन वस्त्रों का खूब प्रचार था। नीले पीले, मजीठ इत्यादि अनेक प्रकार के रंगों से रंगे हुए वस्त्र लोग बड़े चाव से पहनते थे (महा० ८-२८-१—छब्बग्गीय भिक्षुओं का वर्णन)। इनकी किनारियाँ भी विभिन्न प्रकार की होती थीं, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। बौद्धों के लिये विशेष रंग थे, केवल इन्हीं के कपड़े वे पहन सकते थे। विनय में कपड़ों को रंगने की विधि विस्तारपूर्वक दी है (महा० ८-१०-१)। कपड़ा रंगने के लिये वृक्ष के मूल से, स्कंध से, छाल से, पत्र से, पुष्प से तथा फल से रंग प्राप्त किये जाते थे।[२४] पहिले 'उत्तरालुम्प' से युक्त हंडिया

---

[२४] महा० ८-१०-१—अनुजानामि भिक्खवे छ रजनानि मूलरजनं, खंधरजनं, तचरजनं, पत्तरजनं, पुप्परजनं, फलरजनं ति।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



(रजनकुंभी) में रंगको आग पर पकाते थे। पके रंग की परीक्षा उसे पानी में डालकर या नखपर छिड़क कर (उदके वा नक्ख पिठ्ठिकाय वा—थेवकं दातुं) की जाती थी। पके हुए रंग को उतार कर नांद में या एक बड़े थाल में, जिसमें एक दर्वी भी होती थी (रजन-उळुंकं, दण्ड कठालिका) रख दिया जाता था। कपड़े को पत्थर या किसी और वस्तु के बने हुए रंगने के विशाल पात्र (रजन द्रोणि) में रखकर रंगा जाता था। यदि रंग बहुत घना हो जाता था तो रंगे हुए कपड़े को तत्काल पानी में डालकर हलका कर लिया जाता था। कपड़े को रंगने के उपरान्त बाँस और रस्सी (चीवर वंशं, चीवर रज्जुं )के सहारे सुखा लिया जाता था। सूखे चीवरों को हाथ से मलकर व पीट कर (ओकोटेतुं) ठीक कर लिया जाता था और तब यह कार्य पूर्ण होता था। यह तो हुआ बौद्धों के वस्त्रों की रंगाई का हाल; साधारण रंगरेजों का कार्य इससे कहीं अधिक उपकरणों की सहायता से कितनी अधिक मात्रा में होता होगा!

सूती कपड़ों के समान ऊनी कपड़ों को भी रंगने की व्यवस्था अवश्य रही होगी। एक स्थल पर लिखा मिलता है कि अज्ञातिका भिक्षुणी से भेड के ऊन (एलक लोमानि) को धुलवाना, रंगवाना या उसकी जटा खुलवाना दोषास्पद है (निसग्गियपातिच्चय धम्म १७)। इसका स्पष्ट अर्थ है कि ऊन के वस्त्र बनाने के पूर्व उसे धोना, जटा खुलवाना और रंगना आवश्यक था।

**वस्त्रों की धुलाई**

वस्त्रों की धुलाई व सफाई के विषय में विशेष उल्लेखनीय वर्णन नहीं मिलता। केवल इतना ही जाना जाता है कि वस्त्र को स्वच्छ रखने के लिये उसे धुलवाया (धोवापेय्य), रंगवाया (रजापेय्य) और कुंदी कराया (ओकोटापेय्य) जाता था (सुत्त-विभंग, निसग्गिय ४-१)।

**भिक्षुओं के वस्त्र**

भिक्षुओं के लिये यह आवश्यक था कि वे वस्त्रों को परिमण्डल पहिनें अर्थात् उनसे उनका नाभिमण्डल तथा जानु युग्म ढँका हो (ओल्डे० भाग १ पृ० ५९)। साधारणतः भिक्षु तीन वस्त्र —लुंगी (अन्तरवासक), चादर (उत्तरासंग), और दोहरी चादर (संघाटी) पहनते थे। इसके सिवा ऋतु तथा परिस्थिति के अनुरूप उन्हें कुछ अन्य वस्त्रों का उपयोग करने की भी अनुज्ञा प्राप्त थी। ये अन्य वस्त्र, वार्षिक शाटिका, लंगोट, आयोगपट्ट, कायबंधन इत्यादि थे। इनपर हम क्रमशः विचार करेंगे।

**वार्षिक शाटिका—**

यह एक प्रकार की लुंगी होती थी जिसका प्रमाण बुद्ध के बित्ते से ६ × २½ अर्थात् लगभग ५ फीट × २ फीट सबके लिये निश्चित था (महा० ८-१५-१५ वास्सिकसाटिकं)। बरसात में कपड़ों के जल्दी न सूखने के कारण भिक्षु वर्षाकाल में आवश्यकता पड़ने पर लुंगी जैसा पहिनने के लिये एक और चीवर ले सकते थे, इसे वस्सिक साटिका कहा जाता था। वर्षाकाल के उपरान्त इसका परित्याग करना पड़ता था (महा० ८-२०-२)।

खुजली (कण्डू), फुंसी (पिलिका), स्राव (अस्साव) इत्यादि रोगों के शिकार होने पर इस लंगोटनुमा वस्त्र का उपयोग किया जा सकता था। इसे 'कंडु पटिच्छादन' भी कहा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



**लंगोट—** जाता था (महा० ८-१७-१)। इसका भी प्रमाण (बुद्ध के बित्ते से ४×२; लगभग ३½ फीट×१½ फीट) सब के लिये निश्चित था (पाचित्तिय ९०)। निरोग होने के बाद इसका भी परित्याग आवश्यक था (महा० ८-२०-२)।

**आयोगपट्ट—** यह एक प्रकार का दुपट्टा था जो ऊकडूँ बैठकर पीठ पैर बांधने के काम में आता था (रा०सां०—वि०पि० चुल्ल० ५-४-२ पृ० ४४२)।

इस प्रकार दुपट्टा बांधकर बैटने की पद्धति शुंगकालीन कला में भी दिखलाई पड़ती है (बरुआ, बेनीमाधव—भारहूत फलक ७६, चित्र १०२)। आज भी विशेषतः महाराष्ट्र के वृद्ध ब्राह्मण आराम के साथ गप लड़ाने के समय अपने दुपट्टे को इसी प्रकार बांध लेते हैं।

कमर बन्ध का ही दूसरा नाम 'कायबन्धन था। भिक्षा मांगते समय या अन्य कार्य करते समय अन्तर वासक खिसकर गिर न पड़े इसलिये इसे बांधा जाता था। वस्तुतः

**कायबन्धन—** यह गृहस्थों के उपयोग की वस्तु थी। इसका संपूर्ण वर्णन आगे होगा, यहाँ केवल उतनी ही बातों की चर्चा करेंगे जिनका भिक्षुओं की वेषभूषा से साक्षात् सम्बन्ध है। बौद्ध भिक्षुओं को, 'साधारणतया बुने या मछली के कांटे जैसे बुने कटिबंध (पट्टिकं) या शूकर के आँत जैसे बने हुए (सूकरन्तकं) कटिबंधों के उपयोग की आज्ञा मिली। लेकिन इन कटिबंधों के किनारे (दसा) खराब होने लगे तब मुरज और मद्दवीण दो प्रकारों की भी आज्ञा मिल गई। बौद्ध भिक्षु कायबंधनों को सी भी सकते थे। इनके कटिबंधों में हड्डी, शंख, सूत इत्यादि की ही बीटि (विधनं) लगी रहती थी[२५] (चुल्ल० ५-२९-२)।

घूमते समय या कार्य करते समय चीवर हवा से न उड़ें इसलिये उनमें लकड़ी के छोटे गांठ देने के टुकड़े(गण्ठिक), उनके सिरे फंसाने के लिये फाँसे(पासक = पाश) लगाये जाते थे।[२६]

---

[२५] कायबंधनों के विस्तृत विवरण के लिये आगे देखिये पृ० २४९–५०।

[२६] 'गण्ठिक' और 'पासक' के उपयोग की ठीक २ कल्पना तबतक नहीं हो सकती जबतक प्राचीन कला में उसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न मिले। मूल यों है—.....तेन खो पन समयेन आयुस्मा आनन्दो लहुका संघाटियो पारूपित्वा गामं पिण्डाय पवेसि .....अनुजानामि भिक्खवे गण्ठिकं पासकं ति। तेन खो पन समयेन छबग्गीयो भिक्खू उच्चावचो गंठिकायो धारेन्ति सोवण्णमयं रूपीयमयं.....। भगवतो एतद् अत्थं आरोचेसुं।.....अनुजानामि भिक्खवे अठ्ठिमयं, दन्तमयं, विसाणमयं, नलमयं, वेलमयं, कठ्ठमयं, जतुमयं, फलमयं, लोहमयं, शंखनाभिमयं, सुत्तमयं ति। तेन खो पन समयेन भिक्खु गण्ठिकं पि पासकं पि चीवरे अप्पेन्ति, चीवरं जिरति। .....अनुजानामि भिक्खवे गण्ठिका फलकं, पासफलकं ति। गंठिकाफलकं पि, पासफलकं पि अन्ते अप्पेंति, कोणो विवरयति।.....अनुजानामि भिक्खवे गण्ठिका फलकं अंते अप्पेन्तुं पासक फलकं सत्तंगुल वा अठ्ठंगुलं वा ओगाहेत्वा अप्पेन्तुंति। (चुल्ल० ५-२९-२-३; ओल्डे० भाग ३ पृ० १४४)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



**मुखपुञ्छन चोलकं—**

हाथ मुंह पोंछने के लिये जिस कपड़े का उपयोग करते थे उसे 'मुख पुञ्छन या चोलक' कहते थे (महा० ८-१८-१)। इसका व्यवहार भिक्षु सदैव कर सकते थे (महा० ८-२०-२)। इसी प्रकार पैर पोंछने के लिये 'पाद पुञ्छनं' का उपयोग करते थे।

**भिक्षुणियों के वस्त्र**

भिक्षुणियों के वस्त्र भी लगभग भिक्षुओं के समान ही होने थे। उनके लिये 'कञ्चुक' का परिधान करना आवश्यक था, बिना कञ्चुक के वे भिक्षा के लिये अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं जा सकती थी (भिक्खुनी पातिमोक्ख ४-९६)। कञ्चुक की बनावट के विषय में हमें कोई ज्ञान नही है। संभवतः यह सिला हुया वस्त्र होता होगा जिसमें 'गण्ठिका' और 'पासक' का लगना अज्ञात है। नहाने के समय भिक्षुणियाँ एक विशेष प्रकार का छोटा सा वस्त्र पहनती थीं, जिसकी लम्बाई चौड़ाई (दीघ तिरीय) बुद्ध के बित्ते से ४×२=लगभग $3\frac{1}{2} \times 1\frac{1}{2}$ फीट होती थी (रा सां.—वि० पि०—भिक्खुनी पातिमोक्ख ४।२२ पृ० ५३)। भिक्षुणियों के लिए नग्न स्नान का निषेध था इसीलिये उस वस्त्र की योजना थी।

कायबन्धन या कमर बन्द का प्रयोग भिक्षुणियाँ भी करती थी[२७], किन्तु उन्हें आज्ञा थी कि वे न तो लम्बा काय बन्धन ही धारण करें और न उसकी पोंछ (पासुका) लटकावें। कायबन्धन का केवल एक फेरा भर लगा लें (चुल्लु० १०-१०-१)।

विनय पिटक में गृहस्थों अथवा गृहिणियों की वेषभूषा का विस्तृत वर्णन कहीं भी नहीं मिलता, किन्तु षड़ वर्गीय भिक्षु हमारी बड़ी सहायता करते हैं। उन्हीं के सम्बन्धों में आये हुए उल्लेखों से हम तत्कालीन वेषभूषा का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

**साधारण लोगों के वस्त्र**

उस समय के लोग भाँति भाँति के रंगीन वस्त्रों का उपयोग करते थे। वस्त्रों को रंगने के विषय की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं[२८]। इन वस्त्रों में कुछ किनारियाँ लम्बी होती थी, कुछ कटी रहती थी, कुछकी किनारी फूलदार होती थी तथा कुछ का आकार साँप की फणा जैसा होता था, इसका अभिप्राय फणों से चित्रित किनारियों से है (रा सां–वि० पि० पृ० २९४)। ये वस्त्र कई प्रकार से पहिने जाते थे। अधोवस्त्र या धोती धारण करने के कई प्रकार विनय पिटक में उल्लिखित हैं (चुल्ल० ५-२९-४)।

**(हस्तिशौंडिक) हत्थिसोण्डिक—**

वस्त्र के समेटे हुए अगले छोर को हाथी की सूंड की भाँति पैरों तक लटकाना अथवा अट्ठकथा के अनुसार चोल देश की स्त्रियों की भाँति नाभि से नीचे तक लटकाना। पहले प्रकार के उदाहरण शुंग कालीन कला में प्राप्त होते हैं (स्मिथ, वहीं जैनस्तूप एण्ड आदर एण्टिक्विटिज. फ्राम मथुरा, प्लेट ८३)।

---

[२७] स्त्रियों द्वारा व्यवहृत कायबधनों के लिये आगे देखें पृ० २५०।

[२८] पीछे देखिये पृ० २४५–४६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



**मत्स्यवालक (मच्छवालक)—** किनारी और छोर को चुनकर मछली की पूंछ की भाँति पहिन ना।

**चतुष्कर्णक (चतुकण्णकं)—** ऊपर दो, व नीचे दो इस प्रकार चारों कोनों को दिखाते हुए कपड़ों को पहिनना। इसका अभिप्राय लपेटे हुए कपड़े से या धोती से होगा।

**तालवृन्तक (तालवन्तकं)—** ताल के पत्ते की भाँति अगले छोर को चुनकर नीचे तक लटकाना। इसके भी शुंग-कालीन कला में उदाहरण मिलते हैं (मार्शल—दी मान्युमेंटस् ऑफ साँची प्लेट ३६)।

**शतवल्लिक (शतवल्लिकं)—** सैकड़ों चुन्नटों को दिखलाते हुए वस्त्र परिधान करना।

गृहस्थों में अधोवस्त्र को सकच्छ और विकच्छ दोनों प्रकारों से पहिना जाता था।

**कायबंधन या कमरबंद—** कायवंधन या कमरबंद—भिक्षुओं के वस्त्रों का वर्णन करते समय हमने काय बन्धन का उल्लेख किया था। का मुख्य उपयोग कमर को बांधना और धोती को कसी रखना था। कायवन्धन के कई प्रकार होते थे[२९]—पट्टी—उसका उल्लेख हम कर आये हैं। इससे उन चौड़े पट्टीदार कायबंधनों से अभिप्राय है जो कला में बहुधा पाये जाते हैं (बरुआ, भरहुत—प्लेट ५९ चि० ६५, प्लेट ५७ चि० ६२५)। राहुलजीने इसका अर्थ 'साधारणतया बुनी या मछलीके काँटे जैसी बुनी पट्टी' किया है (रा० सां०—वि० पि० पृ० ४४२-४३)।

दूसरे प्रकार का कायबंधन चौड़ापट्टीदार न होकर समेटा हुआ रहता है[३०] (बहुधा इसे ही **'सूकरन्तक'** या सूअर की आँत के समान बना हुआ कहते होंगे। इस प्रकार के कायबंधन भी कला में दिखलाई पड़ते हैं[३१] (चित्र)।

इसके सिवा कायबंधन के और दो प्रकार हैं—**कलावुक** और **देड्डुभक**। ओल्डेनबर्ग के मतानुसार कलावुक कई लड़ियों से बना हुआ कमर बन्द है (ओलडे० खन्ड ३ पृ० १४३)। संस्कृत के कलापक शब्द का अर्थ मोतियों की लड़ी होता है, संभव है कि इस प्रकार का कायबन्धन मोतियों का ही बनता हो। देड्डुभ जिसका मूल संस्कृत शब्द ढुण्डुभ है पानी में के साँप का पर्यायवाची है। इसलिये 'देड्डुभक कायबंधन' का अर्थ साँप के समान मोटा या साँपकी आकृति से युक्त करना उचित होगा।

इनके सिवा विनय और दो नामों का उल्लेख करता है—**मुरज** और **मद्दवीण**। ये दोनों वाद्यों के नाम हैं—मुरज मृदंग और मद्रवीणा। मुरज कायबंधन तो वह होगा जिसके

---

२९ कायबन्धन सम्बंधी वर्णन के लिये चुल्ल० ५-२९-२-३

३० देखिये—बरुआ-भरहुत प्लेट ६४ चित्र ७४ बाणकी आकृतियाँ स्पष्ट हैं।

३१ तुलना कीजिये, वही, प्लेट ५९, चित्र ६५; और प्लेट ५५, चित्र ५८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



ऊपर 'मुरज' की आकृतियाँ बनी हो। मद्दवीण का अभिप्राय स्पष्ट नही है। बुद्धघोषने इसका अर्थ 'पामंग' से युक्त किया है।[३२] पामंग एक प्रकार का कर्णाभूषण था। इसलिये राहुलजी ने मद्दवीण कटिबंध को पामंग के आकारवाला कटिबंध माना है (रा० सा०—वि० पि० पृ० ४४२ पाद टिप्पणी)। ओल्डेनबर्ग ने इसका अर्थ 'मणियुक्त कटिबंध अथवा जिनसे आभूषण लटकते हों ऐसे कटिबंध किया है (ओल्डे० भाग ३ पृ० १४३)।

कटिबन्ध के एक छोर को 'अन्त' कहते थे (चुल्ल० ५-२९-२)। इसे दो प्रकार से सिया जाता था। इन प्रकारों के नाम थे—सोभन और गुणक। शोभन (सोभन) सिलाई उसे कहते थे जब कायबन्धन के छोर को लपेटकर सीया जाता था[३३] और गुणक सिलाई तब होती थी जब छोर में मुद्धि लगाकर आसपास सिलाई की जाती थी।[३४] कला में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं (सोभन-बरुआ-भरहुत प्लेट ५७ चित्र ६२, गुणक वही प्लेट ५५ चित्र ६०)। दूसरे छोर को 'पवनन्त' कहते थे। बुद्ध घोष ने इसका अर्थ पासन्त किया है[३५] जिससे मालुम पड़ता है कि जब कटिबन्ध समेटा हुआ होता था और पाश के समान बांधा जाता था तब उसके एक छोर को 'पासन्त' या पवनन्त कहते होंगे। इस पवनन्त में विठई (विधनं) लगी रहती थी (चुल्ल० ५-२९-२)। इसका उपयोग कमर बंदको कसा हुआ रखने के लिये होता होगा। अपनी अपनी सांपत्तिक स्थिति के अनुसार सोने चांदी या रत्नों की वीठियाँ लगी रहती थीं। शुंग कला में एक स्थल पर रत्नवीठि का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है ( चित्र )।

**उपवस्त्र**

गृहस्थों के उपवस्त्र या दुपट्टा ओढ़ने के उल्लेख लगभग नहीं के बराबर हैं, जहाँ है भी (रा० सां० वि० पि०—चुल्ल० ५-४-५- पृ० ४४२) वहाँ पर उसके ओढ़ने की विशेष पद्धतियों की कोई चर्चा नहीं है। गृहस्थ ऊनी चद्दरों को भी ओढ़ते थे (वही चुल्ल० ५-१-६) पृ० ४२१)।

गृहस्थों के वस्त्रों में सोने चांदी की 'गण्टिका' लगी रहती होगी (चुल्ल०५-२९-२)।

**स्त्रियों के वस्त्र**

विनय पिटक इस विषय में अधिक ज्ञान नहीं देता। पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी अधोवस्त्र के ऊपर 'कायवन्धन' पहनती थीं। इनके कमर बंध लम्बे होते थे और उनकी पोछें (पासुका) लटकी हुई रखी जाती थी। इन पासुकाओं को बनाने के लिये कई प्रकार के वस्त्र यथा बाँसके बने (वीलिव), चमड़े के बने (चम्मपट), दुष्य (दुस्सपट्ट), चोल पट्ट इत्यादि काम में लाये जाते थे[३६]। या तो सारा का सारा कायबंधन ही इन विभिन्न प्रकार के कपड़ों

---

[३२] ओल्डे० भा० ३ पृ० १४३—मद्दवीण नाम पामंग संठानं—बु०।

[३३] ओल्डे० भाग ३ पृ० १५३ पाद टिप्पणी ६—सोभनं नाम वेठेत्वा मुख वट्टि सिव्वनम्—बु०

[३४] वही पाद टिप्पणी ७—गुणकं नाम मुद्धिका संठानेन सिव्वनं—बु०

[३५] वही० पवनन्तो नाम पासन्तो—बु०

[३६] चुल्ल० १०-१०-१—तेन खो पन समयेन विलिवेन पट्टेन पासुके नमेन्ति, चम्मपट्टेन पासुके नमेंति, दुस्सपहेन पासुके नमेंति, दुस्स वेणिया०, दुस्स वट्टिया० चोलपट्टेन०, चोलवेणिया०, चोलवट्टिया०, सुत्तवेणिया०, सुत्त वट्टिया०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



का बनता होगा या केवल पासुका इन कपड़ो की बनाई जाती होगी और कायबंधन में जोड़कर लटका दी जाती होगी। पुरुषों के कमरबन्दों के समान इनमें भी सोने चांदी की वीटियाँ (विधनं) लगी रहती होंगी। भिक्षुणियों के कंचुकों के विषय में हम चर्चा कर चुके हैं। गृहपत्नियों के कञ्चुक भाँति भाँति के फूलपत्तों से चित्रित तथा सोनेचांदी के तारों से मढ़े रहते होंगे। विनय में दिया हुआ 'छब्वगीय भिक्खुनियों' का वर्णन इस दृष्टिसे हमारे लिये बड़े काम का है क्यों कि वहाँ पर उल्लेखित उन सारे प्रकारों को काम-भोगी गृहस्थों या स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त कहा गया है। पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी नीले, पीले, लाल, इत्यादि रंगों के वस्त्र धारण करती थी; इनकी किनारी कभी लंबी, कभी फूलदार और कभी कटी हुई होती थी (रा० सां०—वि० पि० चुल्ल० १०-४-१० पृ० ५२९)। स्त्रीजनोपयोगी एक वस्त्र 'नमतक' भी था। इसके दो अर्थ होते हैं, एक तो सीने का सामान रखने की थैली, और दूसरा वालदार कपड़ा, संभवतः 'नमदा'। सीने की थैली भी बहुधा इसी वालदार कपड़े की बनती थी (ओल्डे० भाग ३ पृ० ९० पादटिप्पनी ३)।

**कुछ अन्य वस्त्र**

अबतक वर्णित वस्त्रों के सिवा बौद्धभिक्षु कुछ अन्य वस्त्र निर्मित वस्तुओं का उपयोग करते थे। पहली थी स्थविका (थविका)। स्थविका थैली या झोलेके नाम है। 'पटिग्गह थविका' का उल्लेख हम कर चुके हैं। औषधियाँ रखने के लिये भी थविका का उपयोग होता था। कभी कभी भिक्षु स्थविका में जूता भी रखते थे। ये स्थविकाएँ सूत की डोरी से कंधों से लटका दी जाती थीं (रा० सां०—वि० पि० चुल्ल० ५-१-१४ पृ० ४२८)।

दूसरी वस्तु जलछक्का (परिस्सावन) थी। इसके दो प्रकार थे। एक जो जल छानने के लिये काम के लाया जानेवाला सादा और स्वच्छ कपड़ा होता था। दूसरा प्रकार लकड़ी के कड़े में कपड़ा फँसा दिया जाता था और इस तरह यह छन्ना बन जाता था। इसे 'कटच्छुपरिस्सावन' कहते थे। जब बर्तन में छन्ना लगा दिया जाता था ताकि काफी पानी एक साथ छना जा सके तब उस बर्तन को 'धर्मकरक' (धम्मकरकं)[३८] कहते थे (सारे वर्णनके लिये चुल्ल० ५-१३-२)। भिक्षु सदैव जलछन्नों से छना पानी पीते थे।

**जूते (उपानह)**

वेषभूषा का विवेचन तब तक पूरा नहीं होता जबतक हम जूतों के विषय में कोई ज्ञान प्राप्त न कर लें। कपड़ों के समान जूते भी कई रंग के होते थे (महा० ५-२-१) कभी कभी जूता तो एक रंग का होता था और उसकी पत्तियाँ (ओल्डेनबर्ग के मतानुसार किनारी) दूसरे रंग की। जूतों के अनेक प्रकार थे। यूनानी लोगों की भाँति पट्टियों से बांधे जानेवाले जूते 'पुटवद्ध' कहलाते थे (महा० ५-२-३)। ये घुटने तक के होते थे। आजकल के बूट के समान केवल पैर ढाँकनेवाले जूते पालि में गुंठिम कहलाते थे। इसके सिवा रूईदार जूते (तूलपूण्णिका),

---

३७ ओल्डे० भाग ३ पृ० १०० पाद टि० 'कटच्छु परिस्सावनं नाम तीसु दण्डकेसु विनन्धित्वा कतं'—

३८ वही पाद टिप्पणी—२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



तीतर के पंखों जैसे जूते (तित्तिर पट्टिका), भेंड़ के सींग बंधे हुए जूते (मेंड विषाण बन्धका), बकरे के सींग बंधे हुए जूते (अजविषाण बन्धका), बिच्छु के डंक की भाँति नोंकवाले जूते (विच्छिकालिका), मोरपंखे के सिले हुए जूते (मोर पिच्छ परिसिब्बिता) चित्र (चित्रा) या 'विचित्र' इत्यादि कई प्रकार लोगों में प्रचलित थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिये इन सारे प्रकारों के जूतों का उपयोग निषिद्ध था।

जूते बनाने के लिये शेर (व्यग्घ), चीता (दीप), सिंह (सीह), हिरन (अजिन), उदविलाव (उद्द), बिल्ली (मज्जारी), कालक (गिलहरी), तथा उल्लू (उलूक) के चर्म का उपयोग करते थे (महा०५-२-४)। इसके सिवा कुछ ऐसी पादुकाओं का भी उल्लेख मिलता है जो अंत्यन्त साधारण और शीघ्र घिस जाने वाली वस्तुओं की बनती थी यथा—ताल के पत्तों की पादुका (तालपत्त पादुका), बाँस के पत्तों की पादुका (वेलूपत्र पादुका), तृण की पादुका (तिण पादुका), 'पुञ्ज पादुका', 'हिंताल पादुका', बब्बज घास की पादुका, 'कमल पादुका' तथा कम्बल पादुका, (महा० ५-२-१-; ५-८-१-)। इनमें से कुछ तो विलासादि के लिये बनती होगी और कुछ गरीबों द्वारा काम में लायी जाती होंगी। इन प्रकारों के सिवा सोने, चांदी, वैदूर्य, स्फटिक, काँच (काच), तांबा, रांगा इत्यादि धातुओं की बनी हुई पादुकाओं के उल्लेख भी आते है (वही)। काठ की पादुका खड़ाऊँ लोगों में तो प्रचलित थी (कट्ठ-पादुका महा० ५-५-२), किन्तु बौद्ध सन्यासियों के लिये वे वर्जित थी।

चमड़े के जूते कई तल्लों के बनते थे, अर्थात् चमड़े की कई परतें लगी होने के कारण मोटे तल्ले के होते थे। बौद्ध भिक्षु एक तल्ले वाले (एक पलासिकं) जूते पहन सकते थे या मोटे तल्ले वाले पुराने जूते पहन सकते थे (महा० ५-१-३०)।

## —सौंदर्य प्रसाधन और आभूषण—

मूलतः विनयपिटक भिक्षु भिक्षुणियों के लिये बने हुए नियमों का संग्रह भर होने के कारण उसमें सौंदर्य प्रसाधनों तथा विलासोपयोगी विविध उपकरणों का विस्तृत वर्णन मिलना असम्भव है। केवल कुछ उल्लेख भर इधर उधर छितरे पड़े हैं, जिन्हें देखनेपर निम्नांकित बातें जानी जा सकती हैं।

विनयकाल के पुरुष बहुधा लम्बे केश रखते थे, इन्हें थकरी (कोच्छ) या कंघी (फण[१९]) अथवा हाथ की कंघी (हत्थफणक)—संभवतः केवल उगलियोंसे—सँवारा जाता था (ओसण्हन्ति) (चुल्ल० ५-२-३)। बालों को खली या पानी मिला हुअे तेल (सित्थतेलकेन, उदकतेलकेन) से स्निग्ध रखा जाता था (चुल्ल० ५-२-३)। दर्पण (आदासे) के प्रयोग से भी लोग परिचित थे, यदि दर्पण न मिला तो पानीभर बर्तन में ही मुंह देख लेते थे (चुल्ल० ५-२-४)।

---

[१९] ओल्डे० खण्ड ३ पृ० ७० पादटिप्पणी १—"फणकेति दन्तमया दिसु येन केन पि'—बु०। वह कंघी जिसका आकार साँपके फण जैसा हो तथा जिसमें दाँतें हों। मराठी में कंघी को आज भी 'फणी' कहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



पुष्पमालाएँ भी शृंगार का प्रमुख साधन थीं। विनय में मालाओं के कई प्रकार[४०] दिये हैं। पहला है **'एकतो वण्टक'** अर्थात् फूलों के डण्ठलों को एक ही ओर रख कर गंथी हुई माला। **'उभतो वण्टक'**—फूलों के डण्ठलों को क्रमशः दोनों ओर रखकर गूंथी हुई माला। **मंजरीक**—इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। बहुधा मंजरियों से बनाई हुई माला का नाम मंजरीक होना चाहिये। ओल्डेनवर्ग के मतानुसार संभवतः इसका आकार भुजबंध के समान होता होगा (ओल्डे० भाग २ पृ० ३४७) **विधूतिक**—ओल्डेनवर्ग ने इसका अर्थ 'पंखे के समान बनी हुई माला' किया है, (वही) किन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता। 'सामन्तपासादिका' के अनुसार[४१] विधूतिका' वह माला है जो सूई या शलाका की सहायता से सिंधुवार या सिंधुक इत्यादि पुष्पों से बनायी जाय। **वटंसक या अवतंसक**—अवतंस शब्द से ही स्पष्ट है कि यह माला विशेषतः कर्णभूषण के तौर पर या कलगी की भाँति पहिनी जाती होगा। अवतंस शब्द का अर्थ 'कलगी' भी होता है (ओल्डे० खण्ड २ पृ० ३४८)। **आवेल या आचेल**—इसका दूसरा नाम 'कर्णिका' है। हो सकता है कि यह कोई खास माला न होकर फूलों का बना हुआ 'कर्णिका' नामक कर्णभूषण हो (वही)। **उरच्छद**—हृदय पर लोटनेवाला पुष्पदाम। यह इतना घना होता होगा कि उससे सारा वक्षस्थल ढँक जाय (वही)।

विनय में कुछ आभूषणों के भी नाम मिलते हैं (चुल्ल० ५-६-१-), (विशषे चर्चा के लिये ओल्डे० भाग ३ पृ०६९ पादटिप्पणियाँ)।

**वल्लिका**— यह कर्णा भरण था। इसमें मोतियों के बने हुए लटकन लगे रहते थे।

**पामंग**— इस शब्द का अर्थ बुद्धघोष ने भी स्पष्ट नहीं किया है, बहुधा आज कल के बुंदों जैसा यह कोई अलंकार होगा।

**कटिसुत्तक**— कमरबन्दों के विवेचन में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए संभव है कि यह कपड़े का बना हुआ न हो कर केवल मोतियों, मणियों या रत्नों की लडियों से ही बनाया जाता हो। बौद्ध भिक्षुओं के लिये इसका व्यवहार वर्ज्य था।

**ओवहिक**— वलय या कंकण। इसका अधिक विवरण नहीं मिलता। बुद्धघोष भी इस विषय में मौन है।

**कायूर**— जातक टीका के अनुसार इस शब्द का अर्थ एक प्रकार का कंठाभूषण है[४२]।

**हत्थाभरणं**— हाथ के विविध अलंकार। स्वतंत्र उल्लेख के कारण यह स्पष्ट हैं 'ओवहिक' से ये भिन्न होते होंगे।

**अंगुलि मुद्दिकं**— अंगूठियाँ।

---

४० माला के विविध प्रकारों के लिये, ओल्डे० खण्ड २ पृ० ३४७ पादटिप्पणियाँ।

४१ वही—पादटि० ४।

४२ देखिये फाज्वेल जातक भाग ३ पृ० ४३७

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



स्त्रियों के सौंदर्यप्रसाधनों का ज्ञान भी हमें विनय से प्राप्त होता है। महिलाएँ स्नान के समय सुगंधित चूर्ण का प्रयोग करती थीं, कभी कभी इस कार्य के लिये सुगंधित मिट्टी का भी प्रयोग करती थीं (रा० सां०—वि० पि० चुल्ल० १०-६-९ पृ० ४३९)। मुख के सौंदर्य को बढ़ाने के लिये मुख पर लेप लगाना (आलिपन) चूर्ण लगाना (चुण्णेन्ति), मैनसिल लगाना (मनोसिलिकाय लञ्छेन्ति), उवटन लगाना (मुखरागं) इत्यादि प्रकार किये जाते थे (चुल्ल० ५-२-५)।

आँखों में अंजन लगाने की प्रथा थी। ये अंजन कई प्रकार के होते थे। कुछ अंजन औषधियों के रूप में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा भी व्यवहृत होते थे। अंजन में सुगंधित द्रव्य पड़ते थे। तगर (एक सुवासिक पुष्प) कृष्णा अनुसारी (काले रंग का चन्दन काष्ठ), कालीय (दूसरे प्रकार का चन्दन काष्ठ) तथा भद्द मुत्त (भद्रमुस्ता नामक घास से बनाई हुई सुगंधित वस्तु) इत्यादि द्रव्यों से अंजन निर्माण किया जाता था ( महा० ६-११-२; ओल्डे० भाग २ पृ० ५० )। अंजन छोटी छोटी डिबियों या अंजन दानियों में रखते थे। ये अंजन दानियाँ सोने, चांदी, हाथीदांत, सींग, नल, बाँस और शंख की बनायी जाती थी (रा०सा०—वि० पि० महा० ६-१-११ पृ० २१८-१९)। अंजन लगाने के लिए अंजन शलाका का प्रयोग किया जाता था (वही)।

शरीर को मृदु एवं सुगंधित बनाने के लिये अंगराग या उवटन लगाया जाता था (रा० सां०—वि०पि० चुल्ल० १०० ४० ८ पृ० ५२८)। कपोलों पर अनेक प्रकार के चिन्ह (विशेषक) बनाये जाते थे (वही, चुल्ल० १०-४-९-)। संभवतः गोंदने का यह प्राचीन रूप होगा। इस प्रकार के चिन्ह भारहुत की शुंगकालीन यक्षी मूर्तियों के कपोलों पर देखे जाते हैं (कनिंघम—भारहुत स्तूप प्लेट ५२)।

सौंदर्य के साथ स्वास्थ्य की ओर भी उचित ध्यान दिया जाता था। पहलवान लोग नहाने के समय वृक्षों से शरीर के विभिन्न भागों को रगड़ कर मजवूत बनाते थे (चुल्ल०५-१—रुक्खे कायं उग्घासेन्ति, चुल्ल० ५-२—थम्भे कायं०)। वृक्षों के अभाव में खंभों ओर दीवालों से भी यह काम लिया जाता था (वही, कुडे कायं०) इसके सिवा कई प्रकार के व्यायाम यथा मुक्केबाजी करना (मल्लमुट्ठिका), दौड़ लगाना, इत्यादि भी लोगों में प्रचलित थे (चुल्ल०-५-१, रा० सां०—वि० पि० पृ० ३४९)। स्त्रियों में भी पहलवान स्त्रियाँ (मल्ली) हुआ करती थीं। विनय में ऐसी एक स्त्री का उल्लेख मिलता है (रा० सां०—वि० पि० पृ० ५२९)। साधारण लोग शरीर को स्वस्थ रखने के लिये मालिश किया करते थे। इस कार्य के लिये कुछ विचित्र प्रकार के उपकरणों का उपयोग किया जाता था। गाय की जंघा से जंघा का मर्दन होता था। गाय के नीचे के जबड़े की हड्डी से (हनुक) पिंडलियों पर थपकियां थगवायी जाती थीं। इस प्रकार हाथ, कमर इत्यादि की भी मालिश होती थी (रा० सां०—वि० पि० चुल्ल० १०-४-७ पृ० ५२८)।

## —भोजन—

भोज्य पदार्थों की कृतियों के विषय में विनयपिटक लगभग मौन ही है। हाँ कुछ भोज्य पदार्थों के नाम और उनमें से कुछ के गुण अवश्य जाने जाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



विनयकाल में सामिष और निरामिष दोनों प्रकार का भोजन समाज में प्रचलित था। सामिष पदार्थों में केवल उन्हीं पशुओंके नाम गिनाये गये हैं, जिनका माँस खाना भिक्षु भिक्षुणियोंके लिये निषिद्ध माना गया है। ये पशु हाथी, घोड़े, कुत्ते, सिंह, बाघ, लकड़बग्घे (तरक्षु) और चीते (दीपी) हैं (महा० ६-२३-१०)। मनोरंजक बात यह है कि दुर्भिक्ष के समय लोग प्रथम तीन प्रकारके पशुओं का भी माँस खाते थे और शेर चीतों इत्यादि का माँस शिकारियों द्वारा खाया जाता था (महा० ६-२३-१४)। मनुष्य के भी माँस के भक्षण किये जाने का उल्लेख इस पिटकमें एक स्थल पर आता है (महा० ६-२३-९) किन्तु वहाँपर मानव-मांस-भक्षक को बड़ी फटकार पड़ी है। इससे सिद्ध होता है कि इसे समाज में घृणित समझा जाता था।

माँस काटने के शस्त्र को 'पोत्थनिका' कहा जाता था (महा० ६-२३-९ रा० सां०—वि० पि० पृ० २३१)।

विनयपिटक को देखने पर मालूम होता है कि उस समय भी मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार का प्रचार अधिक था। घी, मक्खन, खांड़, दूध, दही, तेल इत्यादि अच्छा भोजन समझा जाता था (भिक्खू पातिमोक्ख ५-३९)। उडद या मूंग की दाल (सूप), व्यञ्जन, गुड़ (गूल) मूंग, छाछ (सोवीरक), खिचड़ी (यागु), लड्डू (मधुगोलक), हरी या पकी साग (टाक), आटे के बने पदार्थ (पीट्ठ खादनीयं) इत्यादि निरामिष भोजन के मुख्य पदार्थ थे (महा० ६-२१-२३; रा० सां०—वि० पि० पृ० २२५-२६-२७, ठीका—ओल्डे० भाग २ पृ० १३९ पादटिप्पणी १ व पीट्ठ खादनीयं के लिये पादटिप्पणी २)। भात का भी उल्लेख आता है किन्तु प्रत्येक स्थल पर भात शब्द से चावल का बोध नहीं होता था। चावलके लिये दूसरा शब्द था तण्डुल (महा० ६-२४-१) साधारणतया भात शब्द का अभिप्राय सिद्धान्न से है (वही० भत्तं कसिस्सामा ति)।

खिचड़ी (यागु या यवागु) के विषय में हमें कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। खिचड़ी का एक प्रकार 'त्रिकटुक यवागु' भी था (रा० सां०—वि० पि० महा० ६-३-८ पृ० २२६)। यह खिचड़ी तिल, चावल और मूंग से बनाई जाती थी। इसे रोगियों को पथ्य के रूपमें दिया जाता था। बुद्धके बीमार होने पर एक समय आनन्द ने इसी को बुद्धके सम्मुख रखा था। बुद्धने भी स्वयं खिचड़ीके गुण बतलाये थे (महा० ५-२४-५) खिचड़ी क्षुधाको दूर करती है, प्यासको बुझाती है, वायुको अनुकूल करती है, पेटको साफ करती है, न पचेको पचाती है इत्यादि। कहीं कहीं पर इसे दवा भी कहा गया है (रा० सां०—वि० पि० पृ० २२५)।[४३]

गुड़के विषयमें यह जानना मनोरंजक होगा कि गुड़को बांधने के लिये या उसे कड़ा बनाने के लिये उसमें आटा ओर ईख की राख मिलाते थे (रा० सां—वि० पि० महा० ६-३-५ पृ० २२५)।

---

४३ महा० ६-२४-५-६ खिचड़ी के कुछ गुण—
पटिभानं अस्य उपाजयति ततो खुदं पिपासां च व्यपनेति वातं।
सोधेति वत्थि परिणामेति भत्तं भेसज्जयेतं सुगतेन वण्णितम्॥

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



शाकाहार में फलों और उनके शरवतों (पानों) का भी प्राधान्य था। आमका शरवत (आंबपान), जामुन का (जम्बु पान) केले का ( मोच पान ), अंगूर का ( दाक्ख पान, ) कोई की जड़ का (सालूक) और फालसे का (फारसूक) शरबत मोच पान (?) और मधुपान ये आठ प्रकार के पेय बुद्ध ने अपने शिष्यों के लिये योग्य माने थें (रा० सां०—वि० पि० महा० ६-६-६ पृ० २२५, ओल्डे० भाग ३ पृ० १३२)। इन से भी अधिक प्रकार के पेय साधारण लोगों में प्रचलित रहे होंगे। मद्यपान समाज में तो प्रचलित रहा किन्तु भिक्षुओं के लिये वर्ज्य था।

भोजन सामग्री रखने का स्थान कल्प्य भूमि (कप्प भूमि) कहलाता था जिसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

भोजन करने के लिये योंतो भिक्षुओं के लिये बहुत से नियम बाताये गये हैं पर उनमें से कुछ तो सांप्रदायिक हैं और कुछ साधारण। भिक्षान्न को आदरपूर्वक ग्रहण करना, भोजन से पूर्व दन्तधावन अवश्य कर लेना (भिक्षुओं के लिये नित्य स्नान का नियम नहीं था (भि० पाति० ५-५७), बहुत बड़ा ग्रास न बनाना, ग्रास को मुख तक लाये विना मुँह न खोलना, गाल फुला फुला कर न खाना इत्यादि साधारण शिष्टाचार के नियम थे।

## —सवारियाँ—

सवारियों को 'यान' कहते थे। 'यान' मुख्यतः दो प्रकार के होते थें—मादा जोते यान या नर जोते यान ('इत्थियुतेन' व 'पुरिसयुतेन (महा० ५-१०-२—३))। इस शब्दावली का अर्थ स्पष्ट नहीं हैं[४४]। एक अन्य यान का भी उल्लेख आता है। इसे 'हत्थ वट्टक' कहा गया है (महा० ५-१०-२-३)। यह संभवतः हाथों द्वारा अर्थात् आदमियों द्वारा वाहित पालकी या रिक्शा के समान कोई सवारी होगी। आवश्यकता पड़ने पर भिक्षुओं को 'नर जोते हत्थवहक' (पुरिसयुतं हत्थवहकं) पर बैठने की आज्ञा थी। स्त्रियों के लिये शिविका (सिविकं) और 'पाटंकी' नामक दो प्रकार की पालकीयों का उपयोग किया जाता था। भिक्षुणियों के लिये भी ये सवारियाँ विहित थीं।

रथों का विस्तार पूर्वक उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु रथों की झूल (रथत्थरणं) का उल्लेख किया गया है (चुल्ल० ६-८)। जिन गाडियों में सामान भरकर ले जाया जाता था उन्हें 'शकट' कहते थे। इसीका दूसरा नाम 'भारवाही यान' भी था (रा०सां०—वि० पि० महा० ६-५-२ पृ० २४५)।

---

४४ ओल्डे० भाग २ पृ० २५—'इत्थियुतेनाति धेनुयुतेना। पुरिसन्तरेनाति पुरिस सारथिना'—बु०। ओल्डेन वर्ग के मतानुसार 'गौवों के बीच बैल से जुती गाडियाँ या बलों के बीच एक गाय से जुती गाड़ी"।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



## —पात्र, आसन, शय्या इत्यादि—

तत्कालीन समय में जिन वस्तुओं का उपयोग पात्र निर्माण के लिये किया जाता था उनमें सोना (सोवण्ण), चांदी (रूपीय), वैडूर्य (वेलु रीय), स्फटिक, तांबा (तंब), कांच (काच), टिन (तीपु), सीसा (सीस), कांसा (कंस) इत्यादि प्रमुख थीं (चुल्ल० ५-९-१)। धनिकों के यहां रत्नजटित पात्र दिखलाई पड़ते थे। इसके सिवा काठके वर्तनों (दारुभाण्डं) व मिट्टी के वर्तनों (मट्टिका भाण्डं) का भी खूब प्रचार था (चुल्ल० ६-१४-२)।

कटोरों में नीचे की ओर गोल पेंदे (पत्त मण्डलं) लगे होते थे। पात्रों में मकरदन्त (घडियाल के दाँतों की सहायता से) पेंदे को फिट किया जाता था। ये पेंदे विभिन्न प्रकार की धातुओं के बनाये जाते थे किन्तु भिक्षुओं के लिये केवल सीसे और टिन (सीसमयं, तीपुमयं) से बनें पेदों का उपयोग करने की आज्ञा थी (चुल्ल० ५-९-२)।

पात्रों को विविध प्रकार से रंगने और उनपर चित्र बनाने (रूपकोकिण्णानि, भत्तिकम्म कतानि) की कला का प्रचार था। किन्तु बौद्ध भिक्षु अपने पात्रों पर चित्र नहीं बना सकते थे, उन्हें केवल सादी रेखाएँ भर खीचनें ( पकति मण्डलं ) की अनुमति थी (चुल्ल० ५-९-१)। कटोरों के ऊपरी किनारे को 'ओठ्' या ओष्ठ कहते थे (चुल्ल० ५-९-४)।

पात्रों को सुरक्षित रखने के लिये एक ऊँचा सा स्थान बनाया जाता था इसे (पत्तमाळक कहते थे (ओल्डे० भाग ३ पृ९ ८६ पादटिप्पणी)। यह स्थान ईंटों या लकड़ी का बना हुआ होता था। कभी कभी पात्रों को टोकरियों (पत्तकण्डोलिकं) या थैलियों (पत्तथविका) में रखा जाता था (वही, तथा चुल्ल० ५-९-४)।

पानी रखने के लिये काम में आने वाले बड़े पात्र 'तुंबकटाह' और 'घटिकटाह' कहलाते थे (चुल्ल० ५-९-४)। इसी कार्य के लिये 'सराव' और 'संख' का भी उपयोग होता था (चुल्ल० ५-३-७)। चौड़े मुंहवाले बड़े पात्रको 'द्रोणि (दोनि) कहते थे। 'उदकदोनि' पेड़के तनेको काटकर बनाई जाती थी (ओल्डे० भाग ३ पृ० ११३)। खानेके पात्रोंमें कड़ाहियाँ (कटाह) चम्मच और तश्तरियों का उल्लेख मिलता है (ओल्डे० खण्ड २ पृ० २९०)। जिस वर्तनमें गंदा पानी इकठ्ठा किया जाता था उसे 'पटिग्गह' या 'अवक्कार पाटी' कहते थे (ओल्डे० खं० ३ पृ० २८७ पादटिप्पणी १)।

बौद्ध भिक्षुओं को विभिन्न प्रकारके आसन और शय्याओंके उपयोग की आज्ञा प्राप्त थी। इस लिये इस विषयमें हमें विनयपिटक से बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। प्राचीन भारतमें भी अनेक प्रकार की शय्याओं एवं आसनों से सुसज्जित घर ठीक उसी प्रकार ऐश्वर्य का द्योतक समझा जाता था जैसे आजकाल। प्रथम आसनों का विचार करें।

**आसन, शय्या—**

आसन मुख्यतः दो प्रकारके होते थे, एक तो वे जो जमीन की सतहके ऊपर बिछे रहते थे (निसीदनं, महापरिनिब्बाणसुत्त ५२; भुम्मत्थरणं, वि० पिटक–चुल्ल० ६-१४); दूसरे वे जो पाँवदार होते थे और भूमिकी सतह से ऊँचे होते थे (पीठ, मञ्च इत्यादि)। बौद्ध भिक्षुओंके व्यवहारमें आनेवाले दूसरे प्रकारके आसनों की ऊँचाई आठ अंगुल से अधिक नहीं होती थी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



(अठ्ठंगुल परम् चुल्ल० ६-२-५)। जमीन पर विछाये जानेवाले आसनोंमें मुख्यतः चमड़े और चटाइयों (चम्म, तिणसंथारक) की गणना थी। कभी कभी भूमि की 'छवि' का रक्षण करने के लिये अर्थात् फर्शमें गड्ढे न पड़ जाय, उसके ऊपरका रंग खराब न हो जाय इसलिये कमरोंमें चटाइयाँ (चिलमिका, चिलिमिलिका) विछाते थे (ओल्डे० खण्ड ३ पृ० १६७)। ये ताड़के पत्तों से बनती थीं। श्रीमानों के घरोंमें ऊँचे प्रकारकी दरियाँ विछाई जाती होंगीं। इसके सिवा कम्वलके आसन भी काममें लाये जाते थे। बौद्ध भिक्षुओंके व्यवहारमें आनेवाले इन आसनों का प्रमाण निश्चित था। उनके आसन बुद्ध के बित्ते से २×१ के होते थे (भिक्खु पातिमोक्ख ५/९०)।

ऊचें आसनों के कई प्रकार थे।[४५] इनका विवेचन बुद्धघोषकी सहायता से निम्नांकित रूप से किया जा सकता है—

**मीढि—**

वस्तुतः मीढि कोई आसन विशेष न हो कर पक्का चबूतरा होता था जो घर के अन्दर या बाहर दीवाल के सहारे बनाया जाता था। आज भी घरोंमें इस प्रकारके चबूतरे देखने में आते हैं। ऊँचे आसनों में 'आसन्दि' का प्रचार अधिक था। साधारणतः इस शब्द का अर्थ 'गद्देदार कुर्सी' किया जाता है। ओल्डेनवर्ग ने इसका अर्थ 'बाँहदार कुर्सी किया है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि उसे पीठ टेंकने के लिये कोई पटरा भी होता था या नहीं। बुद्धघोष के कथनानुसार तो यह एक चौकोर आसन था[४६], जिसके पावे आठ अंगुल के होते थे। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि आठ अंगुलवाला प्रमाण तो बौद्धों के लिये होता था, साधारण अवस्थामें उससे भी ऊँची पावोंवाली आसन्दियाँ होती होंगी।

**आसन्दी**

**भद्रपीठ—**

संस्कृत में इसे भद्रपीठ कहते हैं। यह आसन वेंत का वनाया जाता था[४७]। आजकल भी वेंत के आसनों का प्रयोग होता है। प्राचीन काल में भद्र पीठ के कई प्रकार दिखलाई पड़ते है (वरुआ—भरहुत चित्र १४०, मार्शल—मान्युमेंटस् ऑफ सॉची, प्लेट ४९ बी, प्लेट ६२; फोगल—लाप स्कल्चर्सद मथुरा प्लेट ३४ इत्यादि)। विनय से इस वात पर प्रकाश नहीं पड़ता कि ये गद्दीदार होते थे या नहीं। कैला में गद्दीदार भद्रपीठ भी दिखलाई पड़ते हैं (चित्र ७)।

**पीठक—**

ओल्डेन वर्ग ने पीठक का अर्थ गद्दीदार आसन किया है। बुद्धघोष के मतानुसार यह आसन 'पिलोतक' अर्थात् कपड़ों से वद्ध होता था[४८]।

---

४५ सभी प्रकार के आसनों के लिये देखिये—चुल्ल० ६-२-३, ओल्डे० भाग ३ पृ० १६४-६५ पादटिप्पणियाँ भी द्रष्टव्य हैं।

४६ ओल्डे० भाग ३ पृ० १६३–६४ पादटिप्पणीयाँ—आसान्दिकोति चतुरस्स पीटं वुच्चति १ बु.

४७ वही —'भद्दपीठं ति वेत्तमयं पीठं वुच्चति'—बु.

४८ ,, —'पीठकं ति पिलोतक बद्ध पीठं'—बु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



उस आसन को कहते थे जिसमें आंवले के आकार के अनेक पाये हों[४९]। मथुरा की कलामें लगभग इसी प्रकार के एक पीठ के दर्शन होते हैं। इसमें केवल दोही पाये दिखलाई पड़ते हैं (कॉर्निंगटन—एंशिऐंट इण्डिया प्लेट २० सी; देखिये चित्र)।

**आमलकवण्टिक पीठ**

यों तो एड़क या एलक शब्द का अर्थ है 'बकरा', संभवत, इस आसन के पाये बकरे के पैर के समान होते होंगे। बुद्धघोष के मतानुसार इसका अर्थ भिन्न प्रकार का है[५०]।

**एलक पाद पीठ**

यह आसन बेंत का तो नहीं बना होता था किन्तु मजबूत घास का बना होता था। यह चार प्रकार का था, मूंज की घास का बना, उसीर के मूलों का बना, वल्कलों का बना हुआ या बब्बज घास का बना हुआ। ज्ञात होता है कि यह आसन, जमीन पर बिछाने का था या पावेदार होता था। ओल्डेन वर्ग ने इसका अर्थ 'बेंत के तल्ले वाली कुर्सी' किया है[५१]।

**कोच्छ**

विनय पिटक में मञ्चकों और पर्यंकों का भी उल्लेख मिलता है। पलंग के पाये को पाद व चौखट को 'अटनी' कहते थे (ओल्डे० भाग १ पृ० ५३ पादटिप्पणो ६)। अटनी और पादों के सम्बन्धानुसार पर्यंकों के निम्नांकित तीन भेद किये गये हैं।

जब पलंग की चौखट को पायों में फँसाया जाता था, जैसे आजकल चारपाईयों में किया रहता है, तब उसे 'मसारक पर्यंक कहते थे[५२]। (चित्र ५)

**मसारक**

यह मसारक से ठीक उल्टा बना होता था। यहाँ 'अटनी' में छेदकर उसमें पायों के सिरे फँसाए जाते थे और पाये निकल न पड़ें इसलिये एक शलाका (आणि) ठोंक दी जाती थी[५३]।

**आहच्च पादक**

अटनी को पायों से कीलों द्वारा जोड़कर जो मञ्चक बनाया जाता था उसे बुंदिकाबद्ध' कहा जाता था[५४]। ओल्डेन वर्ग के मतानुसार बुंदिका' शब्द का अर्थ लोहे की छोटी सी शलाका है।

**बुंदिका बद्ध**

---

४९ वही—'आमलकाकारेण योजितं बहुपाद पीठं'—बु.

५० वही—एलक पादपीठं नाम दारु पट्टिकाय उपरि पादे ठापेत्वा, भोजन फलंक वियकतं पीठं वुच्चति'—बु.

५१ वही—'कोच्छं नाम वाकमयं वा उसीरमयं वा, मुञ्जमयं वा, बब्बजमयं वा अन्तो संवेठेत्वा बद्धं होति'—बु.

५२ ओल्डे० खण्ड ३ पृ०१६४-६५ पादटिप्पणियाँ—मसारको ति मञ्चपादे विज्झित्वा ततः अटनीयो पवेसेत्वा कतो—बु.

५३ वही—'अयं पन आहच्चपादको नाम मञ्चो अंगे विज्झित्वा कतो होतीति परतो पालियं येव वुत्तो तस्या अटनीयो विज्झित्वा तत्था पादसिखं पवेसेत्वा उपरि आणिं दत्वा कतो मञ्चो आहच्चपादको वेदितब्बो'—बु.

५४ वही—'बुंदिका बद्धो अटनीहि मञ्चपादे डंसापेत्वा पल्लकं संखेपेन कतो'—बु.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



इन भेदों के सिवा पलंगों के भी कुछ भेद पाये जाते हैं, यथा—

**बिडाल मञ्चक**

यह बेंत अथवा बाँस का बनाया जाता था। बहुधा घासों के सहारे बेंत से बुना जाता था[५५]।

**सत्तंग**

जब मञ्चक के ऊपर तीनों तरफ बड़े बड़े तकिये (अपस्सय) रखे जाते थे तब उसे 'सत्तंग मञ्चक' कहते थे[५६]। ओल्डेन वर्ग अपस्सय शब्दका अर्थ 'अघ लेटे' रहने के लिये लगा हुआ तख्ता करता है[५७]। अपस्सय शब्द का मूल संस्कृत रूप 'अपाश्रय' होगा जिसका अर्थ 'तकिया' होता है। इसलिये 'तीसुदिसासु अपस्सयं कत्वा' का अर्थ 'तीनों दिशाओं में तकिये लगाकर' करना उचित होगा। (चित्र)

**सोत्तरच्छद**

इस मञ्चक के ऊपर चंदवा (वितान) लगा होता था, इसपर लाल रंग के गद्दे बिछे होते थे और लालरंग के बड़े बड़े तकिये ( उपाधानं ) अगल बगल लगे रहते थे। सिरहाने भी तकिया (सीसूपधान) होता था और पैरों के लिये भी एक (पादूपधानं) लगा रहता था। इनका रंग कभी लाल (लोहितक), कभी पद्म के समान तथा कभी चित्रविचित्र प्रकार का होता था। तकिये को 'बिबोहन' भी कहते थे[५८] (चुल्ल० ६-२-५)।

चौकियों और चारपाइयों को बहुधा चमड़े से मढ़ा जाता था (महा० ५-१०-४)। पलंग को रस्सियों से भी बुनने का उल्लेख मिलता है (चुल्ल० ६-२-५)। बुनने के (वेतुं) दो प्रकार थे। कभी तो चौखट के सहारे बुनाई होती थी, किन्तु इसमें रस्सी का खर्च अधिक था (अंगानि वहुसुत्तं परियादेन्ति—वही), इस लिये दूसरे प्रकार की बुनाई पलंग की पट्टियों में छेद करके (अंगे विज्झित्वा) की जाती थी। इस प्रकार की बुनाई को अष्टपद (अठ्ठपद) कहते थे। संभवतः पलंग की आजकल की बुनाई के समान यह चारखानेदार थी गद्देदार (तूलोनद्धं) पलंगों का भी प्रचार था (चुल्ल० ६-८)। गद्दी बनाते समय पहले पलंग के ऊपर (ताडके पत्तोंकी चटाई (चिलमिका) बिछाई जाती थी, तब उसके ऊपर गद्दा कसा जाता था (रा० सां०—वि० पि० चुल्ल० ६-१-६ पृ० ४५४)। गद्दोंके अन्दर 'तूल' भरा जाता था। यह 'तूल' तीन प्रकार से प्राप्त करते थे—वृक्षों से, लताओं से तथा पक्षिशावकों के पंखों से (ओल्डे० खण्ड १ पृ० ५४ पादटिप्पणी १)। इसके सिवा 'पोतकी' नामक घास से भी तूल प्राप्त किया जाता था (रा० सां०–वि० पि० चुल्ल० ६-१-६ पृ० ४५४)। गद्दे के ऊपर जो चद्दर बिछायी जाती थी उसे 'पटिका' कहते थे, कभी कभी यह पटिका ऊन की भी होती थी (ओल्डे० खण्ड २ पृ० २७)।

---

५५ वही—'बिड़ाल मञ्चकम् नाम वेत्र मञ्चकम्'—बु.

५६ वही—'सत्तंगं नाम तीसु दिसासु अपस्सयं कत्वा (कतो) मञ्चो

५७ वही—'सोत्तरच्छदन ति सह उत्तरच्छदेन उपरिबन्धेन रत्त वितानेन सद्धिं ति अत्थो। सेत वितानं पि हेट्ठा अकप्पिय पञ्चत्थरणे सति वट्टति, असतिपन वट्टति। उभतो लोहितकूपधानं, सीसूपधानं च पादूधानंच मञ्चस्स उभतो लोहितकूपधानं (एवं) न कप्पति।.....—बु.

५८ चुल्ल० ६-२-५—'अड्ढ कायानि बिम्बोहनानि'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



उसपर फूल कढ़े होते थे। बहुधा इसका रंग श्वेत होता था (वही)। इसके सिवा पुष्पशय्या का भी उल्लेख मिलता है (चुल्ल० ५-१८-१)।

तकियों को 'अपस्सय', 'उपधान', 'बिम्बोहन' इत्यादि अनेक नामों से पुकारा जाता था। इनके दो प्रकार थे। एक तो वे जो मनुष्य की ऊँचाई के आधे (लगभग ३ फीट) लम्बे होते थे (चुल्ल० ६-२-५) और दूसरे उनसे छोटे होते थे जो सिरहाने के काम में आते थे जो (सीसप्पमाणं बिम्बोहनम्—वही)। तकियों के अन्दर ऊन, रुई, घास, पत्ते या वल्कल भरते थे और उन्हें ऊपर से सुन्दर चमड़ो द्वारा आच्छादित कर दिया जाता था (ओल्डे० खण्ड० ३ पृ० १६८)।

विनयपिटक में महार्घशय्या का उल्लेख आता है (रा० सां०, वि० पि०—महा० ५-२-४ पृ० २०९, चुल्ल० ६-४-२ पृ० ४७४)। वहां के वर्णन को पढ़कर हम साधारण रूपसे श्रीमानों का यहां उस काल में किस प्रकार की शय्या का उपयोग किया जाता होगा इसकी कल्पना कर सकते हैं। महार्घशय्या को 'महासयन' कहते थे (चुल्ल० ६-८)। इन बिछौनों पर रोयेदार कम्बल (गोनक) पड़े होते थे। ये बिछौने सिंह व्याघ्रों के चित्रों से युक्त (विकतिक) होते थे। कम्बलों के दो प्रकार और थे—एकान्त लोमी और उद्लोमी। इन बिछौनों पर जो चद्दर (पच्चत्थरण) पड़ी होती वह कदली मृग (के चमड़े) की बनी होती थी (कदलिमिग पवर पच्चत्थरणं–चुल्ल० ६-८)। तकिये भी लगे रहते थे। इस प्रकार यह शय्या अत्यन्त सुख देने वाली होती थी।

अब तक आसन व शय्या का विचार हुआ। विनय में कुछ ऐसे अन्य उपकरणों का भी उल्लेख मिलता है, जिनका उपयोग विहारों में तो होती ही था पर गृहस्थों के घरों में भी होता होगा। उनका विवेचन भी यहाँ आवश्यक है।

**मलोरिक** भोजन के समय कभी कभी पात्र रखने के लिये जो लकड़ी का आधार बनाया जाता था उसे 'मलोरिका' कहते थे। इसके आकार के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं है (चुल्ल० ५-१९-१)।

**खेलमल्लक** अर्थात् पीकदान। इसका प्रयोग मठों में हुआ करता था (ओल्डे० खं० १ पृ० १६०)

**कुत्तक** यह एक ऊन का बना हुआ बड़ा सा कालीन होता था जो नृत्य के समय काम में लाया जाता था (ओल्डे० २ पृ० २७ पादटिप्पणी ४)।

यह वस्तु भिक्षुओं के लिये विशेष उपयोग की थी। बहुधा लोग आराम पाने के लिये दीवालों से शरीर टेकते थे, इससे रंगी हुई दीवालें खराब हो जाती थी। उन्हें बचाने के लिये

**अपस्सन फलक** अपस्सन फलकों का आविष्कार हुआ। यह एक लकड़ी का तख्ता होता था जिसके ऊपर व नीचे कपड़ा बांधा जाता था ताकि भूमि और दीवाल दोनों खराबी से बचें। इसी से पीठ टेंककर बैठा जाता था। निश्चय ही साधारण लोगों के घरों में तथा श्रीमानों के यहां 'अपस्सन फलक' न होकर भरेपूरे 'अपश्रय' का उपयोग किया जाता होगा (ओल्डे० खण्ड ३ पृ० २१९ पादटिप्पणी २)।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



**छत्र**

सूर्यातप से अपना रक्षण करने के लिये छत्रका उपयोग प्राचीन कालसे किया जा रहा है। छत्रों को स्वयं भी धारण करते थे तथा दूसरों द्वारा भी धारण कराया जाता था (छत्तं—चुल्ल० ५-२३-२)।

**मसक कुटिका**

इसका अर्थ है मसहरी। बुद्धघोषने दूसरे शब्दों में इसे 'चीवर कुटिका' कहा है (ओल्डे० खण्ड ३ पृ० १०२—चुल्ल० ५-१३-३)। स्पष्ट है कि यह कपड़े का एक छोटासा कमरा बन जाता था। इसे किस प्रकार बांधते या तानते थे इसे हम नहीं जानते।

**चामर व पञ्चखे**

मच्छरों को भगाने के लिये जिन पंखों का उपयोग करते थे उसे 'मकस वीजन' कहते थे। हवा लेनेके लिये काममें आनेवाले पंखों में मोरपंख का पंखा (मोरपंछमयवीजन) विशेष उल्लेखनीय है। चामर (चमर वीजन) का भी प्रयोग सर्वमान्य था (चुल्ल० ५-२२-१)।

**मल्लक**

यह स्नान का एक उपकरण था। बुद्धघोषके कथनानुसार मकरदन्त तथा वृक्षमूलोंकी सहायता से शरीर को रगड़ने तथा खजुआने के लिये इसे बनाया जाता था (चुल्ल० ५-१-४, ओल्डे० भाग ३ पृ० ६८ पादटिप्पणी १)।

**गंधब्बहत्थक**

बुद्धघोष हमें बतलाता है कि हाथ के पंजे के आकार की बनी हुई यह एक लकड़ी की वस्तु होती थी। इसकी सहायता से शरीर पर चूर्ण लगाते थे। प्रथम इसके ऊपर चूर्ण (चूनं) को लगाकर तब इसे शरीर पर रगड़ा जाता था (चुल्ल० ५-१-३, ओल्डे० भाग ३ पृ० ६७ पादटिप्पणी २)।

**कुरुविन्दक गुलिका**

मणियों की बनी हुई यह एक माला थी (अथवा कपड़े को ही गाँठें दे देकर मणियों के समान बनाया जाता था ?) जो पहले कुरुविन्दक के चूर्ण में सान कर, तब उसके दोनों सिरों को थाम कर शरीर पर रगड़ा जाता था (चुल्ल० ५-१-३, ओल्डे० भाग ३ पृ० ६७ पादटिप्पणी २)।

—अनोरञ्जन—

इस विषय में भी बहुमूल्य सामग्री का वर्णन हमारी बड़ी सहायता करता है। उनके द्वारा किये गये अनाचार सम्बन्धित अनोरञ्जन के साधनों और प्रकारों पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। जिन पिटक में कहीं पर 'अनोरञ्जन' कर्म, बतलाये गये हैं वहाँ पर भी कई खेलों के नाम गिनाये गये हैं। किन्तु खेद है कि कहीं किसी नामों के उन खेलों के विषय में हम और कुछ भी नहीं जानते। खेलों में मुख्य से थे—चाँदा या सी घर फलक या कपड़े पर बना कर खेलना (अट्ठ पद, दस पद), आकाश में स्वयं उछलना तथा वस्तुओं को उछालना (आकासे पि कीळन्ति), जमीन पर विभिन्न आकृतियाँ बना कर खेलना (परिहार पथेपि), किसी वस्तु के लगे हुए ढेर में से अन्य वस्तुओं को न गिराते हुए एक वस्तु को निकाल लेना (सन्तिकायपि) पाँसों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



से खेलना (अक्खेन), 'खालिका', घटिका, 'मोक्षचित्र' (मोक्ख चित्त), सलाकहत्थ, चिंगुलक, पत्तालहक पंगचीर इत्यादि खेलों को खेलते थे (चुल्ल० १-१३—१-३)। इसके सिवा छोटे रथों से खेलना, दूसरे द्वारा वायुमण्डल में बनाये गये अक्षरों को बूझना, दूसरे को विचारों को बूझना (मनसिकाय), दूसरों की नकल करना (यथा वज्झेन) इत्यादि खेलों से लोग पूर्ण परिचित थे (रा० सां०—वि० पि० चुल्ल० १-३-१ पृ० ३४९, ओल्डे० भाग २ पृ० ३४८)।

इसके सिवा घुड़सवारी करना, धर्नुविद्या सीखना और उसके चमत्कार दिखलाना, हाथी पर बैठना, इत्यादि भी मनोरञ्जन के साधन थे (वही)।

संगीत भी मनोरंञ्जन का एक प्रमुख साधन था। किन्तु विरक्त भिक्षुओं के लिये वह वर्ज्य होने के कारण विनय इसके विषय में हमें कुछ नहीं बतलाता। इतना ही हम जानते कि नाट्य गृह को 'रंग' कहते थे। स्त्रियाँ नृत्य में प्रवीण हुआ करती थीं। 'कुत्तक' नामक ऊनी कालीन नृत्य के काम में आता था (चुल्ल० १-१३—१-३)। केवल एक स्थल पर वीणा का नाम भर उल्लेखित है किन्तु उसके विषय में कोई रोचक ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

इसके सिवा कई प्रकार के व्यायाम यथा मुक्के बाजी करना, दौड़ना, मण्डल में चक्कर काटना, परशुविद्या सीखना इत्यादि भी मनोरंजन के प्रमुख साधान थे (रा० सां०—चुल्ल० १-३-१ पृ० ३४९)।

## —चिकित्सा—

बुद्ध अपने शिष्यों के स्वास्थ्य का भी उचित ध्यान रखते थे। विनय पिटक में एक पूरा 'खंदक' (महा० ६) इस विषय के लिए दिया गया है। यहाँ हम संक्षेप में तद्विषयक कुछ खास बातों की चर्चा करेंगे।

विनय में जो औषधियाँ तथा चिकित्साएँ बतलायी गयी हैं वे इस बात को सोचते हुए कही गयी हैं कि औषधियाँ सहज हों, सुलभ हों और सुकर हों। इसीलिये प्रस्तुत वर्णन के आधार पर ही तत्कालीन चिकित्सा शास्त्र की प्रगति का अनुमान करना योग्य न होगा।

प्रथम तो बुद्ध ने ऐसी वस्तुओं को चुना जो आहार का भी काम करें और समय पर दवा का भी (भेसज्जमत्तंच लोकस्स आहारमत्तं च) (महा० ६-१-२)। ये पाँच भैषज्य थे, घी (सप्पि), मक्खन (नवनीत), तेल (तेलं), मधु (मधु), और खाँड (फाणितं)। इसके बाद चर्बी की दवाईयों (वसानि भेसज्जानि) का भी विधान किया गया और भालू (अच्छ), मछली (मच्छ), घड़ियाल (सुसुका), गधा (गर्दभ) व सुवर (सूकर) की चर्बी (वसा) का उपयोग करने की आज्ञा मिली (महा० ६-२-१)। इसी प्रकार वनस्पतियों के मूलों से (मूलानि-भेसज्जानि), पत्तों से (पण्णेहि), फलों से (फलेहि) व गोंद से (जतुहि) बनी दवाईयाँ भी चलने लगीं (महा० ६-२)। कषाय या काढे (कसाव), विभिन्न प्रकार के लवण (लोन) तथा चूर्ण (चुण्ण) भी खूब प्रचलित थे (रा० सां०—वि० पि० महा० ६-१-४८८ पृ० २१७)। सूखा हुआ गोबर (गोमय मट्टिकं) तथा रंगों का चूर्ण (रजननिपक्कं) भी औषधियों के रूप में व्यवहृत होते थे (महा० ६-९-१)। इनसे लगभग वही काम लिया जाता था जो आजकल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai



वोरिक पाऊडर से लेते हैं ( वही )। चूर्ण बनाने के लिये ।सल लोढ़िया (निसदं, निसदपोतं या 'पिसन सिला, पिसन पोतं) तथा ओखली और मूसल (उदुक्खलं मूसलं) का उपयोग किया जाता था(महा०५-९-१)। आँख के रोगों के लिये विविध प्रकार के अंजनों का प्रयोग किया जाता था। सिर दर्द इत्यादि के लिये लोग नस लेते थे (रा०सां०—विपि०—महा० ६-१-११-पृ२१८)।

विनय पिटक हमें कई प्रकार के चिकित्सोपयोगी उपकरणों के नाम और उपयोग बतलाता है। नस भलीभाँति नाक में छोड़ी जाय इसलिये एक प्रकार की नली का उपयोग किया जाता था जिसे नत्थुकरणी' कहते थे (ओल्डे० खं २ पृ० ५४ पादटिप्पणी १-२)। ओल्डेन वर्ग के मतानुसार यह एक ऐसा उपकरण था जिससे नथुनों को ऊपर की और खींच कर फैलाया जा सकता था ताकि औषधि आसानी से प्रविष्ट हो सके। जब दोनों नथूनों पर एक साथ प्रयोग करना होता था तब 'यमग नत्थुकरण' का उपयोग करते थे (वही)। इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर दवाईयों के धूएँ को पीने के लिये फोफी (धूमनेत्त) का प्रयोग करते थे (वही)। घावों को बाँधने के लिये पट्टियों और मलहम के फाहों (कबळिका) का उपयोग किया जाता था।

साधारण चिकित्सा के सिवा पसीना निकालने की अनेक विधियाँ, दूषित रक्त निकालने की प्रक्रियाएँ, विषचिकित्सा, सर्पदंश चिकित्सा इत्यादि से भी लोग अवगत थे। विनय में कहीं कहीं छोटे छोटे नुसखे भी दिये हैं (रा० सां०—वि० पि० महा० ६-२-१—५ पृ० २२०-२१)।

## —उपसंहार—

विनयकाल का भारतीय समाज कई ऊँची नीची श्रेणियों में विभक्त था। विविध उद्योग धन्धों को करनेवालों के विविध नाम होते थे यथा लेणों को बनाने वाले 'आरामिक', कपड़ा बुनने वाले 'तन्तकं' कपड़ा सीने वाले 'तुण्णवाय', तांबे व काँसे के बर्तन बनाने व बेचनेवाले 'कंसपत्थक' इत्यादि। साधारणतः लोगों की आर्थिक अवस्था आजकल से कहीं अधिक अच्छी दिखलाई पड़ती है। लोगों के पास प्रचुर धन होने के कारण तथा उनकी प्रवृत्ति दान की ओर होने के कारण इतने बड़े भिक्षुसंघ को भोजन पाने में कठिनाई नहीं होती थी। समाजमें स्त्रियों का स्थान उँचा था। बौद्धधर्म के सभी द्वार उनके लिये उन्मुक्त थे। संक्षेप में समाज सुखी था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विनयपिटक तत्कालीन भौतिक समाज का चित्र अंकित करने में बड़ी सहायता करता है। किन्तु जैसा कि हम बतला चुके हैं, एक धार्मिक ग्रंथ होने के कारण विनय द्वारा प्रस्तुत समाज का चित्र सर्वांग नहीं है, जो कुछ उल्लेख बिखरे पड़े हैं, उन्हीं के आधारपर यह विवरण प्रस्तुत किया गया है।

———

इस लेखके लिखने में मुझे मेरे गुरु डॉ० वासुदेवशरण जी से तथा पुस्तकों के विषय में राजकीय संस्कृत कालेज एवं सरस्वतीभवन के अधिकारियों से बड़ी सहायता मिली है जिसके लिये मैं कृतज्ञ हूँ।